PUBLISHER:
NATHURAM PREMI,
Proprietor
SHRI JAIN. GRANTHRATNAKAR KARYALAYA.
HIRABAUG GIRGAON, BOMBAY.

Printed by
G. N. KULKARNI
at his Karnatak Press,
7, Girgaon, Back Road.
BOMBAY.
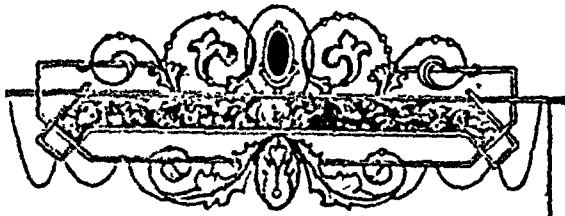
भूमिका ।

जैनियोंका साहित्यसागर बहुत विस्तीर्ण और गंभीर है । ज्यों ज्यों अवगाहन किया जाता है त्यों त्यों उसमेंसे ऐसे २ अपूर्व ग्रन्थ-रत्न हाथ लगते हैं, जिनके विषयमें पहिले कभी किसीने कल्पना भी नहीं की थी । यह उपमितिभवप्रपंचाकथा नामका ग्रन्थ उन्हीं रत्नोंमेंसे एक सर्वोपरि रत्न है । औरोंका चाहे जो मत हो, परन्तु मैं तो इस ग्रन्थपर यहां तक मुग्ध हूं कि, संस्कृतसाहित्यमें और शायद अन्य किसी भाषाके साहित्यमें भी इसकी जोड़का दूसरा ग्रन्थ नहीं समझता हूं । मुझे पूर्ण आशा है कि, जो सज्जन इस ग्रन्थका भावपूर्वक आदिसे अन्त तक एकवार अध्ययन करेंगे, उनका भी मेरे ही समान मत हुए विना नहीं रहेगा । इस अभूत-पूर्व शैलीका—इस हृदयद्रावक रचनाप्रणालीका यह एक ही ग्रन्थ है । कठिनसे कठिन और रूक्ष विषयको सरलसे सरल और सरस बनानेका शायद ही कोई इससे अच्छा ढंग होगा ।

यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है । कोई १६ हजार श्लोकोंमें इसकी रचना हुई है । कई वर्ष पहिले कलकत्तेकी बंगाल रायल एशियाटिक-सुसाइटी इस सम्पूर्ण मूल ग्रन्थको शुद्धतापूर्वक प्रकाशित कर चुकी है । इस ग्रन्थके आठ प्रस्ताव वा आठ भाग हैं, जिनमेंसे केवल एक प्रस्तावका हिन्दी अनुवाद मैं आज आपके साम्हने उपस्थित कर सका हूं । यदि आप लोगोंको मेरा यह प्रयत्न रुचिकर हुआ

और मुझसे हो सका तो इसके शेष भागोंका अनुवाद करनेके लिये भी मैं शीघ्र प्रयत्न करूंगा।

इस ग्रन्थके मूलकर्त्ता महामनीषी श्रीयुत सिद्धर्षिसूरि विक्रमकी दशवीं शताब्दिमें हो चुके हैं। यह ग्रन्थ उन्होंने जेठ सुदी ५ गुरुवार पुनर्वसु नक्षत्र संवत् ९६२ में पूर्ण किया था, ऐसा इस ग्रन्थकी अन्तःप्रशस्तिसे विदित होता है:—

संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहिते लंघिते चास्याः।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत्॥

इस श्लोकमें केवल संवत्सरं शब्द दिया है, जिससे यद्यपि यह स्पष्ट नहीं होता है कि, यह वीरनिर्वाण, विक्रम, शक आदि कौनसा संवत्सर है। परन्तु सिद्धर्षिविषयक अनेक दन्तकथाओंके आधारसे तथा अन्यान्य कई ग्रन्थकारोंके उल्लेखोंसे यह प्रायः सिद्ध ही हो चुका है कि उपमितिभवप्रपंचाकथा—विक्रमके[1] ही ९६२ संवत्सरमें पूर्ण हुई है।

महात्मा सिद्धर्षिके गुरुका नाम **गर्गर्षि** और दादागुरुका नाम **सूराचार्य** था। **प्राभाविकचरित्र** नामके ऐतिहासिक ग्रन्थसे पता लगता है कि, **शिशुपालवध** (माघ) नामक सुप्रसिद्ध महाकाव्यके कर्ता **माघ** महाकवि श्रीसिद्धर्षिके काकाके लड़के थे। गुजरात प्रान्तके **श्रीमाल** नामक नगरके राजा **श्रीवर्मलाभके** मंत्री **सुप्रभदेवके** दो लड़के थे, एक **दत्त** और दूसरा **शुभंकर**। **दत्तके** यहां महाकवि **माघने** और **शुभंकरके** यहां महामनीषी **सिद्धर्षिने** जन्म लिया था। सिद्धर्षि अपनी पहिली अवस्थामें बड़े जुआरी थे, इस-

---

१ प्रो० पिटर्सनने इस संवत्सरको श्रीवीरनिर्वाण संवत् माना है परन्तु वह केवल भ्रम है।

लिये एक दिन अपनी स्त्री और मातासे झिड़के जानेके कारण वे आधी रातको घरसे निकल गये थे और जैनगुरुओंके उपाश्रयमें स्थान पाकर टिक गये थे। बस वहींसे आपके जीवनाभिनयका नवीन सीन आरम्भ हुआ था। महात्मा गर्गर्षिके प्रभावशाली उपदेशने आपके द्यूतव्यसनलिप्त हृदयको विरागी बना दिया और एक ऐसे व्यसनमें लगा दिया, जिससे लाखों जीवोंको सुखका सच्चा और सरल मार्ग मिल गया। दीक्षा लेकर आपने इतना अध्ययन किया और अपनी प्रतिभाको ऐसी विकसित की कि, कालान्तरमें उसमें उपमितिभव-प्रपंचा जैसे अपूर्व और आनन्दपूर्ण फल लगे।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि, महात्मा सिद्धर्षिके बनाये हुए अनेक ग्रन्थ होंगे। परन्तु अभीतक आपके केवल चार ही ग्रन्थोंका पता लगा है जिनमेंसे एक यह है, दूसरा धर्मदासगणिकृत उपदेशमाला नामक ग्रन्थकी टीका है, तीसरा न्यायावतारविवृत्ति है, जिसे रूसके डा. एन. मीरोनो छपा रहे हैं, चौथा श्रीचन्द्र-केवलिचरित्र है जो प्राकृत भाषामें है। सुनते हैं कि, इन ग्रंथोंकी रचना भी बड़ी ही सुन्दर हुई है और आपके अगाध पांडित्यको प्रगट करती है।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि महात्मा सिद्धर्षिने बौद्धग्रन्थोंका कई वर्षतक अध्ययन किया था और उसके कारण आप एक प्रकारसे बौद्ध ही हो गये थे, परन्तु पीछेसे श्रीहरिभद्रसूरिकृत ललितविस्तर नामक ग्रन्थके अध्ययनसे फिर जैनधर्ममें सुदृढ़ हो गये थे। ललितविस्तरके कारण श्रीहरिभद्र-सूरिके विषयमें आपकी जो निःसीम भक्ति हो गई थी, उसको आपने अपनी रचनामें कई स्थानोंमें प्रगट किया है। आपने इस

ग्रन्थमें जो धर्मबोधकर नामका पात्र है, उसे श्रीहरिभद्रसूरिको लक्ष्य करके और जो निष्पुण्यक दरिद्री है, उसे अपने आपको लक्ष्य करके बनाया है। बल्कि इस पहिले प्रस्तावको यदि हम श्रीसिद्धर्षिकी आध्यात्मिक जीवनी कहें, तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। आपने जगह २ संसारी जीवको जो "सोऽयं मदीयो जीवः" कह कर उल्लेख किया है, उससे यह बात दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है।

महात्मा सिद्धर्षिका चरित्र कैसा था, इसके जाननेके लिये किसी ऐतिहासिक ग्रन्थके खोजनेकी आवश्यकता नहीं है। इस ग्रन्थका प्रत्येक शब्द और प्रत्येक पद उनके जीवनचरित्रको प्रगट कर रहा है। वे बड़े ही निराभिमानी, उदार, शान्त, कोमल, नम्र और अन्तर्दृष्टा होंगे। जीवमात्रका उपकार करनेकी प्रबल वासना जैसी उनके उदार-हृदयमें जागृत रही है, वैसी उस समय शायद ही किसी विद्वानके हृदयमें रही होगी। मनुष्यके भावोंका सजीव चित्र खींचनेमें और कविताको माधुर्य प्रसादादिगुणोंसे भूषित करनेमें वे सिद्धहस्त थे। उन्होंने जो कविता की है, वह अपना पांडित्य प्रकट करनेके लिये नहीं किन्तु लोगोंका उपकार करनेके लिये की है। इसी कारण उनकी कविता उत्कृष्ट काव्यके गुणोंसे युक्त होनेपर भी सरल, श्लेष और उपमालंकारसे वेष्टित होनेपर भी कोमल तथा सुबोध्य, अध्यात्मका निरूपण करनेवाली होनेपर भी सरस और सुखद हुई है। ऐसी अच्छी कविताशक्ति पाकर भी उन्होंने उसका उपयोग केवल जीवोंको संसारसमुद्रके पार करनेके लिये किया, इससे पाठक समझ सकते हैं कि, वे किस श्रेणीके महात्मा थे।

महात्मा सिद्धर्षि श्वेताम्बरसम्प्रदायके अनुयायी थे। इससे संभव

है कि, हमारे दिगम्बरसम्प्रदायके अनुयायी इस ग्रन्थके पढ़नेसे अरुचि करें और शायद हमपर भी कुछ कुपित होवें। परन्तु हमारी छोटीसी समझमें जैनियोंको इतना संकीर्णहृदय नहीं होना चाहिये। उन्हें अपने पूर्वजोंके अनुसार इस मतका अनुयायी होना चाहिये कि, "युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः" अर्थात् इसका विचार किये बिना कि यह किसका कथन है, जिसका वचन युक्तिपूर्ण हो उसीका ग्रहण कर लेना चाहिये। और "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" अर्थात् गुणवान् पुरुषोंमें जो गुण होते हैं, वे ही पूजाके वा सत्कारके योग्य होते हैं, उनका बाहिरी वेष और अवस्था आदि नहीं। क्या हुआ यदि महात्मा सिद्धर्षि श्वेताम्बर थे तो? यह देखो कि उनका ग्रन्थ तो श्वेत अम्बर धारण नहीं किये है, वह तो वीतराग भगवानके प्रतिपादन किये हुए मार्गका बतलानेवाला है? उससे हमारा कोई उपकार हो सकता है या नहीं? उसमें हमारे हृदयपर कुछ प्रभाव डालनेकी शक्ति है कि नहीं? यदि ये सब गुण उसमें हैं, तो हम क्यों उसका अध्ययन नहीं करें? आचार्य सिद्धर्षिने स्वयं इस ग्रन्थके अन्तमें अपनी नम्रता और निरभिमानता प्रगट करते हुए कहा है कि, "हे भव्यो! मेरी योग्यता अयोग्यताका विचार करके इस ग्रन्थके श्रवण करनेसे अरुचि नहीं करना। मैं चाहे जैसा होऊं, पर इससे आप लोगोंको रत्नत्रयमार्गकी प्राप्ति अवश्य होगी। कोई आदमी भूखा हो, तो यह नहीं हो सकता कि, उसके परोसे हुए भोजनसे दूसरे पुरुषोंकी भी भूख नहीं मिटे।" आशा है कि, इन बातोंका विचार करके हमारे दिगम्बराम्नायी सज्जन इस ग्रन्थका स्वाध्याय करनेमें किसी प्रकारका संकोच न करेंगे।

इस ग्रन्थका एक अनुवाद मैंने विक्रम संवत् १९६५ में जब कि मैं गजपंथसिद्धक्षेत्रपर जलवायुपरिवर्तनके लिये लगभग तीन महीने रहा था, किया था और वह पूरा भी हो चुका था। परन्तु पीछे कई कारणोंसे मुझे उससे अरुचि हो गई और यह नवीन अनुवाद करना पड़ा। पहिले अनुवादमें बड़ी भारी त्रुटि यह थी कि, उसमें संस्कृतके शब्दोंकी बहुत ही अधिकता थी और वाक्यरचना भी क्लिष्ट हो गई थी। इस अनुवादमें इस दोषको निकालनेकी जितनी मुझसे हो सकी है, उतनी कोशिश की है और मूलके भावोंको समझानेकी ओर तथा भाषा नई ढंगकी लिखनेकी ओर बहुत ध्यान रक्खा है। शब्दशः अनुवाद करनेसे भाषा भद्दी और क्लिष्ट हो जाती है, इसलिये यह अनुवाद प्रायः स्वतंत्रतासे किया गया है, परन्तु साथ ही मूलके किसी भी वाक्यका अथवा शब्दका भाव नहीं छूटने पाया है। विद्वान् पाठक मूलग्रन्थसे मिलान करके इस बातकी परीक्षा कर सकते हैं।

इस ग्रन्थका अनुवाद करते समय मुझे श्रीयुक्त मोतीचन्द गिरधर कापडिया, बी. ए., के गुजरातीभाषान्तरसे तथा बम्बई दि० जैनपाठशालाके अध्यापक श्रीयुत पण्डित मनोहरलालजीसे बहुत कुछ सहायता मिली है, इसलिये उक्त दोनों महाशयोंका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूं।

इस अनुवादको सरल और निर्दोष बनानेके लिये कोई बात उठा नहीं रक्खी गई है, इतनेपर भी यदि इसमें कुछ दोष हैं और मुझ जैसे अल्पज्ञकी कृतिमें दोष होना स्वाभाविक हैं, तो उनके लिये मैं पाठकोंसे क्षमा मांगता हूं।

इस ग्रन्थसे यदि एक भी हिन्दी जाननेवाले सज्जनका उपकार हुआ, तो मैं अपने परिश्रमको सफल समझूंगा। अलमतिविस्तरेण।

चन्दावाड़ी, बम्बई,
आषाढ़कृष्णा प्रतिपदा
श्रीवीर नि० सं० २४३७

नाथूराम प्रेमी।

ओं नमः सिद्धेभ्यः ।

श्रीसिद्धर्षिविरचित

उपमितिभवप्रपंचा कथाका

हिन्दी भाषानुवाद ।

मंगलाचरण ।

नमो निर्नाशिताशेषमहामोहहिमार्तये ।
लोकालोकमलालोकभास्वते परमात्मने ॥ १ ॥
नमो विशुद्धधर्माय स्वरूपपरिपूर्त्तये ।
नमो विकारविस्तारगोचरातीतमूर्त्तये ॥ २ ॥
नमो भुवनसन्तापिरागकेसरिदारिणे ।
प्रशमामृततृप्ताय नाभेयाय महात्मने ॥ ३ ॥
नमो द्वेषगजेन्द्रारिकुम्भनिर्भेदकारिणे ।
अजितादिजिनस्तोमसिंहाय विमलात्मने ॥ ४ ॥
नमो दलितदोषाय मिथ्यादर्शनसूदिने ।
मकरध्वजनाशाय वीराय विगतद्विषे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिसने महामोहरूपी हिमकी सारी[1] पीड़ाओंको नाश कर दी हैं और जो अलोकके सहित तीनों लोकोंको निर्मलतासे—स्पष्टतासे प्रकाशित करनेके लिये सूर्यके समान है, उस परमात्माको नमस्कार हो। अभिप्राय यह है कि जिसतरह सूर्य शीतकी पीड़ाको दूर

१ मोहिनी कर्मकी २८ प्रकृतियां हैं। तत्संबंधी नाना प्रकारकी पीड़ाएं।

करनेवाला तथा संसारको प्रकाशित करनेवाला है, उसी प्रकारसे सर्वज्ञदेव मोहकी पीड़ाओंको नाश करनेवाले और संसारको ज्यों-का त्यों प्रकाशित करनेवाले हैं ॥ १ ॥ जो विशुद्धस्वभावस्वरूप है अथवा जिसका विशुद्ध धर्म है, जिसने अपने आत्मस्वरूपकी परिपूर्णताको प्राप्त कर ली है, और जिसकी मूर्ति सत्र प्रकारके विकारोंसे परे है, अर्थात् जिसके स्वरूपमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता है, उसको (परमात्माको) नमस्कार हो ॥ २ ॥ तीनों लोकोंको दुखी करनेवाले, रागरूपी सिंहका जिन्होंने विदारण कर दिया है और समतारूपी अमृतके पानसे जो सन्तृप्त हो गये हैं, उन महात्मा आदिनाथको नमस्कार हो ॥ ३ ॥ जिन्होंने अपने वैरी द्वेषरूपी बड़े भारी हाथियोंके मस्तकोंको फाड़ डाला है, और जिनकी आत्माएं निर्मल–कर्मकलंकरहित हैं, उन अजितनाथसे लेकर महावीरपर्यन्त तीर्थंकर–सिंहोंको नमस्कार हो ॥ ४ ॥ जिसने क्षुधादि अठारह प्रकारके दोषोंको दलन कर डाला है, मिथ्यादर्शनको नष्ट कर दिया है, कामदेवका विनाश कर दिया है और अन्तरंग बहिरंग शत्रु जिसके रहे नहीं हैं, उस वीर भगवान्‌को नमस्कार हो ॥ ५ ॥

अथवा—

अन्तरङ्गं महासैन्यं समस्तजनतापकम् ।
दलितं लीलया येन केनचित्तं नमाम्यहम् ॥ ६ ॥
समस्तवस्तुविस्तारविचारापारगोचरम् ।
वचो जैनेश्वरं वन्दे सूदिताखिलकल्मषम् ॥ ७ ॥
मुखेन्दोरंशुभिर्व्याप्तं या बिभर्ति विकस्वरम् ।
करे पद्ममचिन्त्येन धाम्ना तां नौमि देवताम् ॥ ८ ॥
परोपदेशप्रवणो मादृशोऽपि प्रजायते ।
यत्प्रभावान्नमस्तेभ्यः सद्गुरुभ्यो विशेषतः ॥ ९ ॥

भावार्थ—अथवा सब लोगोंको दुखी करनेवाली अन्तरंगकी महासेनाको अर्थात् रागद्वेषादि विकारोंको जिसने लीला मात्रमें नष्ट कर दिया हो, ऐसे किसी महात्माको (चाहे वह ब्रह्मा विष्णु बुद्ध आदि कोई भी हो) मैं नमस्कार करता हूं ॥ ६ ॥ जो सारे पदार्थोंके अपार विस्तारका विचार करते हैं—अर्थात् निरूपण करते हैं, और जो सारे पापोंका नाश करते हैं, उन जिनेश्वरदेवके वचनोंकी अर्थात् जैनशास्त्रोंकी मैं वन्दना करता हूं ॥ ७ ॥ जो अपने अचिन्तनीय तेजके कारण अपने मुखरूपी चन्द्रमाकी किरणोंसे व्याप्त रहनेपर भी फूले हुए कमलको हाथमें धारण किये रहती है, उस देवताको अर्थात् वाग्देवी सरस्वतीको मैं नमस्कार करता हूं । अभिप्राय यह है कि, चन्द्रमाके होते हुए कमल कभी नहीं फूलता है, परन्तु सरस्वतीका ऐसा आश्चर्ययुक्त प्रकाश है कि, उससे उसके मुखचन्द्रकी किरणें पड़ते रहनेपर भी हाथका कमल फूला हुआ रहता है ॥८॥ और जिनके प्रभावसे मुझ सरीखे थोड़ी बुद्धि धारण करनेवाले भी दूसरोंको उपदेश देनेमें अथवा ग्रन्थ रचनेमें समर्थ हो जाते हैं, उन सद्गुरुओंको विशेषतासे नमस्कार हो ॥ ९ ॥

अथ प्रस्तावना ।

इस प्रकार नमस्कार करनेसे विघ्न शान्त हो जानेके कारण अब मैं (ग्रन्थकर्त्ता) निराकुल होकर विवक्षित विषयका अर्थात् जिसे मैं कहना चाहता हूं, उसका प्रस्ताव करता हूं ।

किसी शुभकर्मके उदयसे यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यजन्म धारण करके तथा उसमें भी उत्तम कुल और उत्तम धर्मादि सामग्री पाकरके भव्य जीवोंको चाहिये कि, जो सब वस्तुएं छोड़ने योग्य हैं, उन्हें छोड़ देवें, जो करनेयोग्य कर्म हैं, उन्हें करें, जो प्रशंसा करने

योग्य हैं, उनकी प्रशंसा करें और जो सुनने योग्य हैं, उन्हें अच्छी तरहसे सुनें।

मन वचन और कायसम्बन्धी ऐसी प्रत्येक क्रिया जो कि परिणामोंमें थोड़ीसी भी मलिनता उत्पन्न करनेवाली अतएव मोक्षकी रोकनेवाली (अशुभआस्रवरूप) हो, अपनी भलाई चाहनेवालोंको छोड़ देनी चाहिये। (हेय)

जिसके करनेसे चित्त मोतीकी माला, वर्फ, गायके दूध, कुन्दके फूल और चन्द्रमाके समान निर्मल होता है, वह (शुभास्रवरूप) कर्म बुद्धिमानोंको करना चाहिये। (कर्तव्य)

जिनका अन्तरात्मा निर्मल हो गया है, उन्हें तीन लोकके नाथ जिनेन्द्रदेव, उनका निरूपण किया हुआ जैनधर्म, और उसमें स्थिर रहनेवाले पुरुष, इन तीनोंकी ही निरन्तर प्रशंसा करनी चाहिये। (श्लाघ्य)

और जिनकी बुद्धि श्रद्धासे भले प्रकारसे शुद्ध है, अर्थात् जो सम्यग्दृष्टी जीव हैं, उन्हें सम्पूर्ण दोषोंका (पापोंका) नाश करनेके लिये सर्वज्ञके कहे हुए सारभूत वचनोंको ही जी लगाकर सुनना चाहिये। (श्रोतव्य)

अब सर्वज्ञदेवके वचन ही जगत्के हितकरनेवाले और सुननेके योग्य हैं, ऐसा विचार करके यहांपर पहले उन्हीका प्रकरण है इस कारण उन वचनोंके ही अनुसार महामोहादिकी मिटानेवाली और भवोंके विस्तारको बतलानेवाली इस भवप्रपंचाकथाके कहनेका प्रारंभ किया जाता है।

आस्रवके करनेवाले पांच महादोष अर्थात् हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील, और परिग्रह, पांच इन्द्रियां, महामोहसहित चार कषाय

(अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ,) और मिथ्यात्व राग द्वेषादि सारी अन्तरंग सेनाके दोषोंको 'सर्वज्ञभाषित' वचन बतलाते हैं। इसी प्रकारसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संतोष, प्रशम, तप, संयम, सत्यादि करोड़ों सुभटोंसे भरी हुई अन्तरंगकी सेना है। इस सेनाके गुणोंके गौरवको भी 'सर्वज्ञके वचन' पद पदपर प्रगट करते हैं। इसके सिवाय एकेन्द्रियादिके भेदसे अनन्त प्रकारके भवप्रपंचको भी जो कि अतिशय दुःखरूप है, सर्वज्ञके वचन सम्पूर्णरूपसे वर्णन करते हैं।

ऐसी महाभित्तिका अर्थात् सर्वज्ञवचनरूपी बड़ी भारी दीवालका आश्रय लेकर कहनेके कारण मुझ सरीखे अल्पज्ञके वचनोंको भी जैनेन्द्र सिद्धान्तसे निकले हुए झरने समझना चाहिये।

संसारमें धर्म, अर्थ, काम और संकीर्ण (धर्म, अर्थ, काम तीनोंका मिश्रण) इन चारके आश्रयसे चार प्रकारकी कथाएं होती हैं। अर्थात् कथाओंके धर्मकथा, अर्थकथा, कामकथा और संकीर्ण कथा (मिश्रित) ये चार भेद होते हैं। इनमेंसे अर्थकथा उसे कहते हैं, जिसमें साम दाम आदि नीतिका, धातुवाद आदि शिल्पका, और कृषि (खेती) मसि वाणिज्य आदि जीविकाओंका वर्णन किया जाता है और इसलिये जो धन कमानेका उत्तम द्वार होती है। इस कथासे परिणाम क्लेशित रहते हैं, इस हेतुसे यह पापका बंध करनेवाली और दुर्गतिको पहुंचानेमें तत्पर मानी गई है। कामकथा उसे कहते हैं, जिसमें विषयोंके कारणरूप अभिप्राय गर्भित रहते हैं अर्थात् जिससे विषय पोषण होता है, अवस्था और चतुराई जिससे सूचित होती है और अनुराग (प्रेम) तथा चेष्टा आदिकोंसे जो उठती है। यह मलीन विषयोंमें रागकी बढ़ानेवाली और बुद्धिको उलटी करनेवाली है, अतएव कुगतिमें ले जानेवाली है। बुद्धिमान लोग धर्मकथा उसे कहते हैं, जिसकी

दया, दान, क्षमा आदि धर्मके अंगोंपर प्रतिष्ठा की जाती है, और जिसमें धर्मको धारण करने योग्य बतलानेका अभिप्राय रहता है। यह चित्तको शुद्ध करनेवाली होती है, इस हेतुसे पुण्यका बंध करनेवाली और कर्मोंकी निर्जरा करनेवाली होती है। इसी लिये इसे स्वर्ग और मोक्षकी कारण बतलाई है (पुण्य बंधसे स्वर्ग और कर्मोंकी निर्जरासे मोक्ष होता है)। और **संकीर्णकथा** उसे कहते हैं, जो धर्म अर्थ और कामके साधनोंके उपाय बतलानेमें तत्पर रहती है और नानाप्रकारके उत्तम रसोंके अभिप्राय प्रगट करती है। यह कथा चित्तमें विचित्र २ प्रकारके विचार उत्पन्न करती है, इसलिये अनेक प्रकारके फल देनेवाली और मनुष्यको विद्वान् बनानेमें एक प्रकारकी कारण है।

ऊपर कही हुई चार प्रकारकी कथाओंके सुननेवाले 'श्रोता' भी चार तरहके होते हैं। उनके लक्षण हम संक्षेपमें कहते हैं, सो सुनो;—

जो पुरुष माया, शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह तथा मदसंयुक्त होकर **अर्थकथा** सुननेकी इच्छा करते हैं, वे **तामस** प्रकृतिवाले अधम श्रोता हैं। जो रागलिप्त और विवेकरहित होकर **कामकथा** सुननेकी वांछा करते हैं, वे **राजस** प्रकृतिवाले मध्यम श्रोता हैं। जो मोक्षकी आकांक्षामें एकतान एकमन होकर केवल शुद्ध **धर्मकथाके** ही सुननेकी अभिलाषा करते हैं, वे **सात्विक** प्रकृतिवाले उत्तम श्रोता हैं और जो इहलोक तथा परलोक दोनोंकी अपेक्षा रखके धर्म, अर्थ, कामरूप **संकीर्णकथा** सुनना चाहते हैं, वे किंचित् सात्विक गुणवाले (राजस-तामससहित) वरमध्यम अर्थात् मध्यमोंमें भी श्रेष्ठ प्रकारके श्रोता हैं।

जो जीव रजस् तमस् प्रकृतिवाले होते हैं, वे अर्थ और कामकथाका निषेध करनेवाले धर्मके शासकोंका अर्थात् धर्मकथा कहनेवालोंका

तिरस्कार करके स्वयं ही अर्थ और कामकथामें लवलीन हो जाते हैं। उनकी रागद्वेष और महामोह (मिथ्यात्व—अज्ञान) रूप तीनों अग्नियां अर्थ और कामकथा रूपी घीकी आहुतियोंसे और २ बढ़ती हैं। मोरोंकी वाणी जैसे शरीरको रोमांचित करती है, उसी प्रकारसे काम और अर्थकथा पापोंके करनेमें उत्साह बढ़ाती है। इसलिये कामकथा और अर्थकथा कभी नहीं करनी चाहिये। भला ऐसा कौन चतुर है, जो घावपर नमक डालता है? भाव यह कि, जीव एक तो कर्मोंके कारण वैसे ही दुखी हो रहा है, इसपर काम अर्थकी कथाओंसे फिर और दुःख देनेवाले कर्म उपार्जन करना जलेपर नमक डालनेके समान है।

दूसरोंकी भलाई करनेवाले बुद्धिमानोंको वही काम करना चाहिये, जिससे समस्त जीवोंका यहां हित हो और परलोकमें भी हो। इससे यद्यपि काम और अर्थकी कथाएं लोगोंको प्यारी लगती हैं, तथापि विद्वानोंको उन्हें छोड़ देना चाहिये। क्योंकि उनका परिणाम (नतीजा) बहुत भयंकर है।

ऐसा समझकर जो भाग्यशाली पुरुष हैं, वे समस्त प्राणियोंकी इस लोक और परलोकसम्बन्धी भलाईकी इच्छासे अमृतसरीखी निर्मल धर्मकथाकी रचना करते हैं।

कोई २ आचार्य मनुष्यके चित्तको अपनी ओर खींचनेवाली संकीर्णकथा (धर्मअर्थकामसंयुक्त) को भी सत्कथा मानकर उसे मार्गकी ओर अवतरण करनेवाली अर्थात् जैनधर्ममें लगानेवाली होनेके कारण चाहते हैं अर्थात् संकीर्णकथाकी रचना करते हैं। दूसरोंकी भलाई करनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि, संसारमें जीव जिस प्रकारसे बोधभाजन अर्थात् दर्शन ज्ञान चरित्रके पात्र बन जावें, उसी प्रकारसे प्रतिबोधित करनेका प्रयत्न करें। पहले पहल मूढ़बुद्धिवालोंके हृदयमें धर्म

नहीं भासता है, अतएव (धर्मके साथ २) काम और अर्थसम्बन्धी कथा कहकर उनका मन आकर्षित किया जाता है। और जब इस प्रकारसे उनका मन आकर्षित हो जाता है, तब फिर वे धर्म ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाते हैं। इसलिये विक्षेपद्वारसे अर्थात् उपचारसे संकीर्णकथाको भी सत्कथा कहते हैं। सो यह हमारी 'उपमितिभवप्रपंचाकथा' यद्यपि शुद्धधर्मका ही कथन करेगी, तथापि धर्मकथाके गुणोंकी अपेक्षा रखती हुई अर्थात् धर्मकथाके लक्षणको नहीं छोड़ती हुई कहीं २ संकीर्णरूपताको (मिश्रताको) भी धारण करेगी। अभिप्राय यह है कि, धर्मकथा तो रहेगी ही, पर कहीं २ प्रसंगसे उसमें अर्थ और कामसम्बन्धी विषय भी कहा जावेगा।

संस्कृत और प्राकृत ये दो ही भाषाएं प्रधानताके योग्य हैं। इनमेंसे पहली जो संस्कृत भाषा है, वह तो दुर्विदग्ध पुरुषोंके ही हृदयमें रहती है। और दूसरी जो प्राकृत भाषा है, वह बालकोंको भी अच्छी तरह समझमें आती है और सुननेमें प्यारी लगती है। इस लिये प्राकृत भाषामें ही यह कथा कहनी चाहिये थी। परन्तु वह प्राकृत भाषा भी उन दुर्विदग्ध पुरुषोंकी समझमें नहीं आती है—उन्हें नहीं रुचती है। और यह नीति है कि, "यदि उपाय हो, तो सबका ही चित्त रंजन करना चाहिये।" इसलिये उनके अनुरोधसे यह कथा संस्कृतमें ही कही जायगी। परन्तु इसकी संस्कृत न तो बड़े २ वाक्योंसे अतिशय गूढ़ अर्थवाली होगी और न अप्रसिद्ध पर्यायोंसे (शब्दोंसे) कठिन होगी—इससे यह सर्वजनोचित होगी अर्थात् इसे सब कोई अच्छी तरहसे समझ सकेंगे। दुर्विदग्ध भी समझ लेंगे और बालबुद्धि भी समझ लेंगे। *

* अभिप्राय यह है कि, हमारी कृतिसे सबको लाभ पहुंचना चाहिये। इस लिये हम इसे सरल संस्कृतमें बनाते हैं। यदि प्राकृतमें बनाते तो बालबुद्धि ते

इस कथाका कथाशरीर इसके 'उपमितिभवप्रपंचा' इस नामसे ही प्रतिपादित होता है। क्योंकि इसमें एक कथाके मिषसे (बहानेसे) संसारके प्रपंचोंकी उपमिति अर्थात् समानता बतलाई गई है। इस संसारके प्रपंचका अर्थात् विस्तारका यद्यपि सभी प्राणी प्रत्यक्ष अनुभवन करते हैं—इसे सब ही जानते हैं, तो भी यह परोक्ष सरीखा जान पड़ता है, इस लिये यह वर्णन करनेके योग्य समझा गया।

इस प्रकार भ्रम और अज्ञानका नाश करनेके लिये यह स्मृतिरूपी बीजको उगानेवाला कथाका अर्थ संग्रह करके अर्थात् कथाके भेद और उसके श्रोता आदि बतलाकर अब कथाशरीर अर्थात् कथाकी रचना कहते हैं:—

यह कथा दो प्रकारकी है, एक अन्तरंग और दूसरी बाह्य। इनमेंसे पहले अन्तरंगकथाशरीरको अर्थात् अन्तरंग रचनाको बतलाते हैं:—

अन्तरंगकथाशरीर।

इस कथाके स्पष्ट रीतिसे आठ प्रस्ताव (प्रकरण) किये जावेंगे। उनमें जो विषय कहे जावेंगे, वे इस प्रकार हैं:—

१. प्रथम प्रस्तावमें मैंने जिस हेतुसे यह कथा इस प्रकारसे रची है, उसका प्रतिपादन किया जावेगा[1]।

समझ लेंगे, परन्तु दूसरे जो ब्राह्मणादि विद्वान् हैं—जो प्राकृत नहीं पढ़ते हैं—नहीं समझते हैं, वे इससे लाभ नहीं उठा सकते। ऐसा जान पड़ता है कि, 'दुर्विदग्ध' शब्द देकर ग्रन्थकर्त्ताने वेदानुयायी विद्वानोंपर आक्षेप किया है, जो सुखबोध्य प्राकृतको भी नहीं पढ़ते हैं। ग्रन्थकर्त्ताके समयमें जैनी ही बहुत करके प्राकृत पढ़ते थे। ब्राह्मण विद्वान् भी इस अपूर्व ग्रन्थको पढ़कर अपना कल्याण करें, इस अभिप्रायसे ही यह ग्रन्थ संस्कृतमें रचा गया है।

[1] इस पुस्तकमें जो कि छपकर प्रकाशित होती है, केवल पहला प्रस्ताव है। इसके आगे प्रायः इतने ही बड़े २ सात प्रस्ताव और हैं। वे आगे क्रमसे प्रकाशित किये जावेंगे।

२. दूसरे प्रस्तावमें "'भव्यपुरुष' सुन्दर मनुष्यभवको पाकर अपना वास्तविक हित जाननेकी इच्छा करता हुआ 'सदागम'को प्राप्त करेगा और उसके समीप रहेगा। फिर वह उसीके (सदागमके) द्वारा 'अगृहीतसंकेता'के व्याजसे सूचित किया हुआ संसारी जीवका तिर्यंचगतिसम्बन्धीचरित्र 'प्रज्ञाविशाला'के साथ सुनकरके विचार करेगा।" इन सब बातोंका वर्णन किया जावेगा।

३. तीसरे प्रस्तावमें "हिंसा और क्रोधके वशवर्ती होनेसे और स्पर्शनेंद्रियके कारण विवेकरहित होनेसे संसारी जीव दुखी होगा और अन्तमें मनुष्यजन्मसे भ्रष्ट होगा।" यह सब वर्णन संसारी जीवके मुखसे ही निवेदन कराया जावेगा।

४. चौथे प्रस्तावमें "संसारीजीव मान, असत्य और जिह्वा इन्द्रियके विषयमें रत होकर दुःखसे पीड़ित होता है और दुःखोंसे भरे हुए अनन्त तथा आपार संसारमें वारंवार भ्रमण करता है।" इन सब बातोंका विस्तारसे वर्णन किया जायगा।

५. पांचवें प्रस्तावमें संसारी जीव चोरी माया और नासिका इन्द्रियके विषयका विपाक (नतीजा) कहेगा।

६. छठे प्रस्तावमें संसारी जीव लोभ, मैथुन और नेत्र इन्द्रियके विषयका परिणाम कहेगा, जो कि उसने पहले अनुभवन किया था।

७. सातवें प्रस्तावमें महामोहकी सम्पूर्ण चेष्टाओंका तथा परिग्रह और कर्ण इन्द्रियके विपाकका वर्णन किया जायगा।

तीसरेसे लेकर सातवें तक पांच प्रस्तावोंमें संसारी जीवका जो कुछ वृत्तान्त कहा जायगा, उसमेंसे कुछ तो उसका स्वयं सम्पन्न किया हुआ अर्थात् अनुभव किया हुआ है और कुछेक दूसरे पुरुषोंका कहा हुआ है। तथापि वह सब विश्वासके योग्य है, इसलिये जीवका ही कहा गया है।

८. आठवें प्रस्तावमें पहले कही हुई सब बातोंका मेल मिलता है और संसारी जीव अपना हित करता है। संसारीजीवका संसारसे विरक्त करनेवाला चरित्र सुनकर भव्यपुरुष प्रबुद्ध होता है—चेत जाता है। इसी प्रकारसे संसारी जीवकी बारबारकी प्रेरणासे अगृहीतसंकेता बड़ी कठिनाईसे प्रतिबोधित होती है—सुलटती है, ऐसा निवेदन किया जायगा।

पहले केवलज्ञानसूर्य—श्रीनिर्मलाचार्यको पाकर संसारी जीवने अपनी यह सारी कथा पूछी, सीखी और भले प्रकार स्मरण रक्खी थी। इसी प्रकारसे 'सदागम'से बार २ पूछकर विशेषतासे स्थिर की थी। इसलिये फिर उसने अवधिज्ञानके उत्पन्न होनेसे इन सब बातोंका प्रतिपादन किया है।

इस कथामें अन्तरंगलोगोंका ज्ञान, बोलना, जाना, आना, विवाह, बन्धुता आदि सब लोकस्थिति कही गई है, सो उसे दूषित नहीं समझना चाहिये। क्योंकि वह सब दूसरे गुणोंकी आवश्यकतासे उपमाके द्वारा ज्ञान होनेके लिये ही निवेदन की गई है।

क्योंकि—"जो प्रत्यक्षसे तथा अनुभवसे सिद्ध होता हो, और युक्तिसे जिसमें किसी प्रकारका दोष न आता हो, उसे सत्कल्पित उपमान कहते हैं।"

इस प्रकारके उपमान (समानता) सिद्धान्तोंमें अनेक जगह दिखलाई देते हैं। जैसे कि, (१) आवश्यकसूत्रमें आक्षेपयुक्त मुद्गशैलकी और पुष्करावर्त मेघकी समानता बतलाई गई है, (२) नागदत्तकी कथामें क्रोधादिकोंको सर्प कहे हैं, इसी प्रकारसे (३) पिण्डैषणा अध्ययनमें मछलीने अपना अभिप्राय कहा है, और (४) उत्तराध्यनमें सूखे पत्तोंने नवीन कोंपलोंके प्रति) अपना संदेशा कहलाया है।

इसलिये सिद्धान्तोंके समान यहां भी जो कुछ (सत्कल्पित उपमान) कहा जायगा, उसे युक्तियुक्त अर्थात् ठीक समझना चाहिये। क्योंकि यह उपमारूप होगा।

इस प्रकारसे यह अन्तरंगकथाशरीर कहा गया। अब बहिरंगकथाशरीर कहते हैं:—

बाह्यकथाशरीर।

मेरुपर्वतके पूर्व विदहमें सुकच्छविजय नामका एक देश है और उसमें क्षेमपुरी नामकी नगरी है। इस नगरीमें सुकच्छविजयके स्वामी श्रीअनुसुन्दरचक्रवर्ती रहते थे। वे अपनी आयुके अन्तमें एकवार अपने देशके देखनेकी अभिलाषासे विलास करते हुए निकले और एक दिन शंखपुर नामके नगरमें पहुंचे। वहां चित्तरण नामके उद्यानके बीचमें एक मनोनन्दन नामका जैनमन्दिर था, जिसमें श्रीसमन्तभद्र नामके आचार्य विराजमान थे और उनके समीप महाभद्रा नामकी प्रवर्तिनी (साध्वी), सुललिता नामकी अतिशय भोली राजपुत्री, पुंडरीक नामका राजपुत्र और एक बड़ी भारी सभा भरी हुई थी।

उस समय वे धैर्यवान् समन्तभद्राचार्य ज्ञानदृष्टिसे उस चक्रवर्तीको महापापोंका करनेवाला जानकर इस प्रकारसे बोले कि:—
" लोकमें जिसका कोलाहल सुन पड़ता है, वह संसारीजीव नामका चोर है। इस समय उसे मारे जानेके स्थानमें लिये जाते हैं।" यह सुनकर महाभद्राने विचार किया कि, आचार्य महाराजने जिस जीवका वर्णन किया है, वह कोई नरकगामी जीव होगा। अतएव वह करुणालु होकर वहांसे चली और चक्रवर्तीके समीप गई। वहां चक्रवर्तीको महाभद्राके दर्शनमात्रसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब चक्रवर्तीने अपना सब वृत्तान्त जानकर वैक्रियकलब्धिके बलसे चोरका आकार

धारण किया और वह महाभद्राके साथ आचार्यके समीप गया। वहांपर सुललिताने चोरीका सम्पूर्ण वृत्तान्त आदरपूर्वक पूछा। तब आचार्य महाराजकी प्रेरणासे और उस राजपुत्रीको प्रतिबोधित करनेकी इच्छासे संसारी जीवने (चक्रवर्तीने) अतिशय वैराग्यका उत्पन्न करनेवाला अपना भवप्रपंच उपमाके द्वारा कह सुनाया। जिसके प्रसंग मात्रको सुनकर पुंडरीक राजकुमार क्षणभरमें अपने लघुकर्मपनेके (निकटभव्यताके) कारण प्रबुद्ध हो गया। परन्तु वह राजपुत्री प्राचीन कर्मोंके दोपसे विशेपतासे कहनेपर और बारंवार प्रेरणा करनेपर भी प्रतिबुद्ध नहीं हुई। निदान बड़े कष्टसे जैसे तैसे वह राजपुत्री बोधको प्राप्त हो गई और वे सब आचार्य, महाभद्रा, सुललिता, पुंडरीक और चक्रवर्ती आत्माके लिये पथ्यरूप जो शिवालय (मोक्ष), उसमें जा पहुंचे।

इस कथाशरीरको अपने हृदयमें धारण कर रखना चाहिये। क्योंकि आठवें प्रस्तावमें यह सर्व वृतान्त प्रगट होगा।

विशेप विज्ञप्ति।

यथार्थमें यह कथा सर्वज्ञप्रणीत सिद्धान्तके वचनरूपी अमृतसागरसे निकाली हुई एक जलविन्दुके समान है। अतएव दुर्जन लोग इसके श्रवण करनेके योग्य नहीं हैं। क्योंकि "कालकूट विप अमृतविन्दुके साथ नहीं मिलाया जाता है।" और पापियोंकी पापकारिणी चर्चा ही क्यों की जावे? इस विचारसे यहांपर दुर्जनोंके दोपोंका विचार भी नहीं किया जाता है।

दुर्जनकी स्तुति की जावे तो भी वह काव्यके दोपोंको प्रकाश करता है और यदि निंदा की जावे तो और भी अधिक करता है। इसलिये उसकी उपेक्षा करना ही उचित है। अथवा दुर्जनोंकी निन्दा

करनेसे अपनी दुर्जनता प्रगट होती है और स्तुति करनेसे असत्य-भाषणका दोष लगता है। अतएव उनके विषयमें कान न देना ही युक्त है।

हमारी इस कथाके श्रवण करनेके पात्र क्षीरसागरके समान गंभीर हृदयवाले, लघुकर्मी (निकटसंसारी) और भव्य सज्जन पुरुष हैं। परन्तु ऐसे पुरुषोंकी भी प्रशंसा तथा निन्दा नहीं करनी चाहिये। इनके विषयमें भी मौन धारण करना श्रेष्ठ है। क्योंकि इन अनन्त गुण-शाली पुरुषोंकी निन्दा करनेमें तो महापाप है, और स्तुति हम सरीखे जड़ बुद्धियोंके द्वारा होना कठिन है। इसके सिवाय सज्जन पुरुषोंकी स्तुति न की हो, तो भी वे काव्यमें गुणोंको ही देखते हैं और दोषोंको ढँकते हैं। क्योंकि महात्मा पुरुषोंकी प्रकृति ही ऐसी होती है। अत एव उनकी स्तुति न करके मैं केवल उनसे श्रवण करनेके लिये इस प्रकार अभ्यर्थना करता हूं कि—"हे भव्यपुरुषो! मेरे अनुरोधसे थोड़ी देर कान लगाकर और चित्तको एकाग्र करके मैं जो वृत्तान्त कहता हूं, उसे सुनोः—"

इति प्रस्तावना।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

अथ प्रथम प्रस्ताव ।

दृष्टांतकथा ।

इस लोकमें एक अदृष्टमूलपर्यन्त नामका बड़ा भारी नगर है, जो अनादिकालसे अनन्त जीवोंसे भरा हुआ है और सदा ऐसा ही रहेगा । यह नगर बादलोंके बराबर ऊंचे और मनको हरण करनेवाले महलोंसे सघन हो रहा है, जिनके आदि अन्तका कुछ पता नहीं है; ऐसे बड़े २ बाजारोंसे सुशोभित हो रहा है, अपार तथा बड़े २ विस्तारवाली बिक्रीकी चीजोंसे भर रहा है, और उनमें सबसे अधिक कीमती जो रत्न हैं, उनके करोड़ोंके ढेरोंसे व्याप्त हो रहा है। विचित्र २ प्रकारके सुन्दर चित्रोंकी रचनासे शोभित हजारों देवमन्दिरोंसे जिनपर कि बालकोंके हृदय आकर्षित हो रहे हैं और देखनेवालोंके नेत्र स्थिर हो रहे हैं, वह बहुत ही शोभित होता है। और वाचाल बालकोंके मनोहर कलकल शब्दसे शब्दमय हो रहा है।

वह नगर चारों ओरसे एक अलंघ्य और ऊंचे कोटरूपी चूड़ेसे (वलयसे) घिर रहा है । उसकी मध्यभागकी गभीरताका (वि-

---

१. दृष्टान्तकी प्रत्येक बात अच्छी तरहसे विचार करके बांचना चाहिये । आगे दार्ष्टान्तमें यहांकी कही हुई सब बातें घटित की जावेंगी । उस समय इस विषयकी खूबी समझमें आवेगी ।

स्तारका) कुछ पता नहीं लगता है। उसके चारों ओर एक जलसे भरी हुई खाई है, जिससे वह दुर्गम्य है, अर्थात् बाहरका कोई पुरुष उसमें प्रवेश नहीं कर सकता है, और शोभनीय मनोहर तरंगोंवाले सरोवरोंके कारण वह आश्चर्यकारी बन रहा है। शत्रुओंको दुख देने वाले घोर अंधकूपोंसे जो कि कोटके पास २ चारों ओर बने हुए हैं, वह नगर छुप रहा है। देवोंके विहार करने योग्य बगीचोंसे जो कि नाना प्रकारके फल फूलोंसे लद रहे हैं और भ्रमण करते हुए भौंरोंके तीव्र झंकाररूपी संगीतसे चित्तको चुरा रहे हैं; वह नगर सुंदर है। इस प्रकार अनेक आश्चर्योंवाला और चमत्कारोंका कारण वह 'अदृष्ट-मूलपर्यंत' नानका महानगर है।

उस नगरमें एक निष्पुण्यक नामका दरिद्री रहता है। उसका पेट बहुत बड़ा है। उसके भाई बन्धु सब मर गये हैं। वह दुर्बुद्धि है, धन तथा पुरुषार्थसे रहित है। भूख सहते सहते उसका शरीर बहुत दुबला हो गया है। भिक्षाके लिये एक घड़ेका फूटा हुआ ठीकरा लेकर वह घर घर निन्दा सहता हुआ रात दिन फिरता है। वह अनाथ है। धरतीमें सोनेसे उसकी पीठ तथा दोनों करवट छिल गये हैं। धूलसे उसका सारा शरीर मैला हो रहा है और फटे हुए ची-थड़ोंसे ढँक रहा है। उसे दुर्दुमनीय (शैतान) लड़कोंके झुंड-के झुंड क्षण क्षणमें मारते हैं। लकड़ी मुक्कों तथा बड़े २ ढेलोंकी मारसे वह जर्जरा—अधमरा हो रहा है। इस प्रकार सारे शरीरमें बड़ी २ चोटोंके लगनेसे उसका आत्मा अतिशय दुखी हो रहा है और "हा माता, मेरी रक्षा करो" इस प्रकार दीनतासे चिल्लाता हुआ वह पागल सा हो रहा है। इसके सिवाय वह उन्माद, ज्वर, कोढ़, खुजली तथा शूल वेदनासे भी दुखी है। सारांश यह कि वह सारे

रोगोंका घर वन रहा है और उनकी वेदनाओंके जोरसे विह्वल हो रहा है। जाड़ा, गर्मी, डांस, मच्छर, भूख, प्यास आदि उपद्रवोंसे वह पीड़ित हैं, और इससे घोर नारकीके समान वेदनाओंका अनुभवन करता है।

उस निष्पुण्यक दरिद्रीको देखकर सज्जनोंको दया उत्पन्न होती है, मानी पुरुषोंको हंसी आती है, बालकोंको खेल सूझता ह और पापकर्म करनेवालोंको दृष्टान्तपूर्वक उपदेश मिलता है।

उस महानगरमें और भी अनेक रंक देखे जाते हैं, परन्तु निष्पुण्यकके समान अभागोंका शिरोमणि दूसरा कोई नहीं है।

वह निष्पुण्यक "इस घरमें मुझे भिक्षा मिलेगी" "इसमें मिलेगी" इत्यादि चिन्ता करके निरन्तर नाना प्रकारके विकल्पोंसे व्याकुल तथा रौद्रध्यानमें मग्न रहता है। परन्तु तो भी उसे भिक्षामें कुछ भी नहीं मिलता है, केवल खेद ही होता है। और यदि कभी थोड़ा बहुत कदन्न (बुरा भोजन) पा लेता है, तो उससे एक राज्य पा लेनेके समान संतुष्ट होता है।

लोगोंके अपमानपूर्वक दिये हुए उस बुरे अन्नका भोजन करते हुए भी वह इस बातसे बहुत ही डरा करता है कि, कोई बलवान् इसे छीन ले जायगा। और उस कदन्नके खानेसे उसको कुछ तृप्ति भी नहीं होती है। बल्कि भूख और २ बढ़ती है और खाया हुआ जो कुछ पच जाता है, वह उसे वात विशूचिका (महामारी) आदि रोग बनकर पीड़ित करता है। यद्यपि इनके सिवाय और भी सब रोगोंका कारण वही कदन्न है, और पहलेके रोगोंका बढ़ानेवाला भी वही है, परन्तु वह बेचारा उसीको सुन्दर मानता है और दूसरे अच्छे भोजनकी ओर देखता भी नहीं है। स्वादिष्ट भोजनोंका स्वाद उसने कभी स्वप्नमें भी नहीं जाना है कि, कैसा होता है।

वह व्याकुलचित्त दरिद्री उस नगरके ऊंचे नीचे घरोंमें, नाना प्रकारकी गलियेंमें तथा मुहल्लोंमें बहुत बार भ्रमण कर चुका है—चक्कर लगा चुका है। और इस प्रकार भ्रमण करते २ उस दुखी तथा महापापसे पीड़ित आत्मावाले दरिद्रीका न जाने कितना समय बीत गया है।

इस महानगरमें एक सुस्थित नामका प्रसिद्ध राजा है, जो समस्त जीवोंपर स्वभावसे ही अतिशय वात्सल्य रखता है। एक दिन बहुतसे चक्कर लगाते २ वह भिखारी इस राजाके महलके पास आया। उसके द्वारपर एक स्वकर्मविवर नामका द्वारपाल पहरा दे रहा था। उसने निष्पुण्यकको अतिशय दयाका पात्र देखकर दयाभावसे उस अपूर्व राजमन्दिरमें चला जाने दिया।

रत्नोंकी राशिकी ज्योतिसे उस राजमहलमें अंधकारकी कुछ भी बाधा नहीं है अर्थात् निरन्तर प्रकाश रहता है और स्त्रियोंकी कटिमेखला (बजनेवाली करधनी) तथा बिछुओंके उठे हुए झंकार शब्दसे वह महल सदा सुन्दर लगता है। देवोपनीत वा देवदूष्य (देवोंद्वारा आये हुए) वस्त्रोंके चंदोवोंसे जिनमें कि चंचल मोतियोंकी मालाएं लटक रहीं हैं वह महल युक्त है और लोगोंके ताम्बूलोंकी ललाईसे रंगे हुए मुखोंसे मनोहर है।

उस राजमन्दिरका आंगन विचित्र भक्तिसे बनाई हुई, सुगन्धित, और सुन्दरवर्णवाली मालाओंसे जिनपर कि शब्द करते हुए भौंरे मनोवेधक गायन करते हुए जान पड़ते हैं; महक रहा है—भर रहा है—और मर्दन (मालिश) करते समय सुगंधित विलेपन (उबटन) के गिर जानेसे वह कीचड़मय हो रहा है। इसके सिवाय वहांके प्रसन्नचित्त प्राणी आनन्दमर्दल (एक प्रकारका बाजा) बजा रहे हैं।

उस राजमहलमें अनेक राजा रहते हैं जिनके कि जाज्वल्यमान अन्तर्गत तेजसे शत्रुओंका नाश हो गया है और बाहरी सब प्रकारकी क्रियाएं अतिशय शान्त दिखलाई देती हैं। सारे जगतकी चेष्टाएं जिन्हें साक्षात् सरीखी हो रही हैं, अपनी विचक्षण बुद्धिसे जिन्होंने अपने समस्त शत्रुओंको जान लिया है, और समस्त नीतिशास्त्रोंको जो जानते हैं ऐसे मंत्रीगणोंसे भी वह राजमहल भर रहा है। ऐसे असंख्य योद्धा भी वहां रहते हैं, जो रणांगनमें अपने साम्हने साक्षात् यमराजको भी देखकर नहीं डरते हैं।

करोड़ों नगरों, असंख्य ग्रामों तथा खानियोंका निराकुलतासे परिपालन करनेवाले—प्रबन्ध करनेवाले—नियुक्तकोंसे (कामदारोंसे) तथा अतिशय स्वामिभक्त चतुर तलवर्गिकों (कोटपालों) से वह राजमहल संकीर्ण हो रहा है। ऐसी बुड्डी स्त्रियोंसे भी वह महल शोभित है, जिनकी विषयवासनाएं नष्ट हो गई हैं, और जो उन्मत्त स्त्रियोंको रोकनेमें तत्पर रहती हैं। वह राजभवन अनेक सुभटोंसे चारों ओरसे घिरा हुआ रहता है और सैकड़ों विलासिनी स्त्रियोंकी शोभासे देवलोकको भी जीतता है।

सुन्दर कंठवाले तथा प्रयोगोंके जाननेवाले गवैयों द्वारा गाये हुए और वीणा तथा वेणुके (बांसुरी के) शब्दोंसे मिले हुए गायनोंसे वह राजमहल कानोंको सुखी करता है, चित्तको अपनी ओर खींचनेवाले विचित्र २ प्रकारके सुन्दर चित्रोंसे अतिशय सुन्दरताके कारण नेत्रोंको जहां तहां निश्चल कर देता है, अर्थात् जो जिस चित्रको देखता है, उसके नेत्र उसीपर गड़ जाते हैं, अतिशय सुगंधित चन्दन, अगरु, कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थोंसे नासिकाको अमोदित करता है, कोमल वस्त्र, कोमल रुईकी शय्या, तथा सुन्दर स्त्रियोंके संयोगसे उनके योग्य सब

लोगोंकी स्पर्शेन्द्रियको प्रमुदित करता है और चित्तमें प्रीति उत्पन्न करनेवाले तथा जिव्हाको आनन्दित करनेवाले भोजनोंसे सम्पूर्ण प्राणियोंको स्वस्थ करता है।

इस प्रकार उस राजमहलको सारी इन्द्रियोंकी संतृप्तिका कारण देखकर वह भिखारी "वास्तवमें यह क्या है?" इस प्रकार विचार करता हुआ विस्मित हो गया। यद्यपि उन्मादके कारण वह रंक वास्तवमें उस राजमहलकी कोई विशेषता नहीं जान सका, तथापि जब उसे कुछ होश हुआ, तब उसके हृदयमें राजमहलसम्बन्धी स्फूर्ति हो आई। वह विचारने लगा कि, यह निरन्तर उत्सवपूर्ण रहनेवाला राजमहल जो आज मुझे द्वारपालके प्रसादसे देखनेको मिला हैं, मैंने पहले कभी नहीं देखा था। यद्यपि मैं पहले भ्रमण करता हुआ इस महलके द्वार तक अनेक वार आ चुका हूं, परन्तु यहांके महापापी द्वारपालोंने मुझे बराबर रोका है और कभी भीतर नहीं जाने दिया है। मैं सचमुच ही 'निष्पुण्यक' हूं, जो पहले कभी इस देवदुर्लभ महलको नहीं देख सका और न कभी देखनेके लिये मैंने कोई उपाय किया। अज्ञानतासे मेरी चेतना नष्ट हो रही थी, इस कारण और तो क्या मैंनें कभी यह जाननेकी भी इच्छा नहीं की कि, यह राजमहल कैसा है? यह द्वारपाल मेरा परमबन्धु है, जिसने दयाभावसे मुझ भाग्यहीनको भी यह चित्तको आल्हादित करनेवाला रमणीय महल दिखला दिया। ये लोग अतिशय धन्य हैं, जो इस राजमन्दिरमें सब प्रकारके कष्टोंसे रहित और प्रसन्नचित्त होकर सदा ही मौज करते हैं।

जिस समय वह चेतनायुक्त भिखारी इस प्रकार विचार कर रहा था, उसी समय एक नई बात हुई; जो आगे कही जाती है:—

उस राजमहलके ऊपर सातवीं मंजिलपर पहले कहा हुआ परम ऐश्वर्यशाली 'सुस्थित' नामका राजा विलास करता हुआ विराजमान है। और अपने नीचेके निरन्तर आनन्दरूप और नाना व्यापारमय पूर्वोक्त सम्पूर्ण नगरको साक्षात् चारों ओरसे देखता है। उस नगरके बाहर तथा भीतर कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो उसको नहीं दिखती हो। इस फाटकके भीतर पहुंचे हुए भिखारीको भी जिसके कि देखनेसे अतिशय ग्लानि उत्पन्न होती थी, और जो बड़े २ रोगोंसे घिरा हुआ तथा सज्जन पुरुषोंकी दयाका स्थान था, उस निर्मल दृष्टि-वाले महात्मा राजेन्द्रने दया करके देखा और अपनी दृष्टिकी वर्षासे मानो उसके पापोंको धो दिया—पापरहित कर दिया।

उस समय भोजनालय (रसोई) के 'धर्मबोधकर' नामके अधि-कारीने राजाकी उस गरीबपर पड़ती हुई दृष्टिको देखी। वह जान-नेकी इच्छासे इस प्रकार विचारने लगा कि, "इस समय मैं यह क्या अद्भुत दृश्य देख रहा हूं? जिसपर महाराज अपनी विशेष दृष्टि डालते हैं, वह मनुष्य तत्काल ही तीन भुवनका राजा हो जाता है और यह भिक्षुक जिसे मैं देख रहा हूं, गरीब, रोगी, निर्धन, मूर्ख, तथा संसारको विरक्त करनेवाला है, अतएव आलोचना करनेसे—भलीभांति विचार करनेसे भी इसपर महाराजकी दृष्टिका पड़ना कैसे संभव हो सकता है? आगे पीछे सोचनेसे यह बात कुछ समझमें नहीं आती है। परन्तु हां! अब मालूम हुआ। इसकी ओर देखनेका यही कारण है कि, 'स्वकर्मविवर' द्वारपालने इसे यहां प्रवेश करने दिया है। और यह स्वकर्मविवर अपरीक्षक नहीं है। अर्थात् जब यह खूब बारीकीसे परीक्षा कर लेता है, तब किसी-को भीतर आने देता ह। इसीसे राजाने इस रंककी ओर 'सम्यक्-दृष्टि' से देखा है। इसके सिवाय एक कारण और भी है। वह यह

कि, इस राजभवनपर जिसका पक्षपात हो जाता है, वह पूज्य परमेश्वरका (राजाका) प्यारा हो जाता है। और यह रंक नेत्ररोगसे अतिशय दुखी है, परन्तु राजभवनके देखनेकी इच्छासे इसके नेत्र उघड़ गये हैं। इसका मुंह जो कि देखनेमें बहुत ही घिनौना मालूम पड़ता है, राजमहलके देखनेसे प्रसन्नताके कारण दर्शनीय हो गया है। इसी प्रकारसे इसके धूलसे मलीन हुए अंग प्रत्यंग रोमांचित हो रहे हैं। जान पड़ता है कि, इस राजभवनपर इसका अनुराग हुआ है और इसीसे राजाने इसपर अपनी दृष्टि डाली है। सो यद्यपि इस समय यह दरिद्री भिखारीका वेष धारण कर रहा है, परन्तु राजाके अवलोकन कर लेनेसे यह शीघ्र ही अपने स्वरूपको पा लेगा अर्थात् राजाके तुल्य हो जायगा।" ऐसा विचार करके धर्मबोधकर उस रंकपर दयालु हो गया। लोकमें जो यह कहावत सुनी जाती है कि, "यथा राजा तथा प्रजा" अर्थात् "जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है" सो सर्वथा सत्य है। अभिप्राय यह कि, जैसा दयालु सुस्थित नामका राजा था, वैसा ही उसका सेवक धर्मबोधकर भी निकला।

इसके पीछे वह तत्काल ही आदरपूर्वक उसके पास गया और बोला, "आओ! आओ! मैं तुम्हें भिक्षा दूं।" उस समय उसको पास आते देखकर वे सबके सब लड़के जो कि कठिनाईसे भी नहीं रुकते थे, कठोर थे, और उस भिखारीके पीछे लगे हुए थे, भाग गये। इसके बाद धर्मबोधकर उसे प्रयत्नपूर्वक भोजन करनेके योग्य स्थानमें ले गया और वहां उसने अपने सेवकोंको आज्ञा दी कि "इसे भिक्षा दो।"

धर्मबोधकरकी तद्दया नामकी एक सुन्दर लड़की है। वह अपने पिताकी आज्ञा सुनकर आदरके साथ उठी और सारे रोगोंके नाश

करनेवाले, तेज और बलके बढ़ानेवाले, सुगंधित, सुरस, स्निग्ध (चिकने), देवोंके लिये भी दुर्लभ और मनको हरण करनेवाले महाकल्याणक नामके परमान्नको (खीरको) लेकर निष्पुण्यकके पास आई। परन्तु धर्मबोधके द्वारा वहां पहुंचाया हुआ वह दरिद्री अपने तुच्छ अभिप्रायोंके कारण शंकासे व्याकुल होकर विचारने लगा कि, "यह पुरुप मुझे स्वयं बुलाकर भिक्षाके लिये लाया है, इस लिये इसका अभिप्राय मुझे अच्छा नहीं जान पड़ता है। मेरा यह मिट्टीका ठीकरा भिक्षासे प्राय: भर चुका है, सो यह इसे किसी निर्जन स्थानमें ले जाकर अवश्य ही छीन लेगा। तो क्या अब मैं यहांसे एकाएक भाग जाऊं? या बैठकर इसे यहां ही भक्षण कर लूं? अथवा यह कहकर कि 'मुझे भिक्षासे प्रयोजन नहीं है—भीख नहीं चाहिये' यहांसे शीघ्र ही चला जाऊं?' इस तरहके अनेक विकल्पोंके उठनेसे उसका भय बढ़ने लगा, जिससे कि उसे यह भी स्मरण नहीं रहा कि, मैं कहां जाता हूं और कहां खड़ा हूं। और अतिशय मूर्छा वा ममत्वमें ग्रसित होनेके कारण 'संरक्षणनिमित्तक'[1] रौद्रध्यानमें मग्न होकर उसने अपने नेत्र बन्द कर लिये। इसके एक ही क्षण पीछे उसकी सर्व इन्द्रियोंकी क्रियाएं बन्द हो गई—वह लकड़ीके समान अचेत होकर कुछ भी विचार नहीं कर सका। और धर्मबोधकरकी कन्या तद्दयाको भी जो कि 'यह भोजन ग्रहण करो, यह परमान्न ग्रहण करो' इस प्रकार वारम्वार कहते कहते थक गई थी, नहीं पहिचान सका। "मेरा भीखका यह थोड़ासा कदन्न सब रोगोंका करनेवाला नहीं हो सकता है" इस प्रकारके ध्यानसे वह अज्ञानी उस अमृतके समान भोजनकी उत्तमताको जो कि तद्दया उसे देती थी, विचार ही नहीं सकता था।

---

१ अपनी प्यारी चीजकी रक्षा करनेके लिये जो ध्यान किया जाता है, वह 'संरक्षणनिमित्तक' नामका पांचवां रौद्रध्यान है।

ऐसी असंभव घटनाको प्रत्यक्ष होती देखकर और उससे अचंभित होकर धर्मबोधकर उस समय चिन्तवन करने लगा कि, "यह क्या बात है, जो यह दरिद्री सुन्दर मीठे परमान्नको न तो ग्रहण करता है और न कुछ उत्तर ही देता है। मुंह फाड़ रहा है, नेत्रोंको बन्द किये हुए है और मानो अपना सर्वस्व ही खो चुका है, इस तरह ममत्ववश काष्ठकी खूंटीके समान स्थिर हो रहा है। इससे मैं समझता हूं कि, यह पापी इस परमान्नके योग्य नहीं है। परंतु इसमें इस बेचारेका कुछ दोष नहीं जान पड़ता है। क्योंकि इसे बाहिर भीतर सब ओरसे रोगोंने घेर रक्खा है। और मैं समझता हूं कि उनकी पीड़ाओंसे अतिशय दुखी होनेके कारण ही यह कुछ नहीं जानता है—जड़ सरीखा हो रहा है। यदि ऐसा नहीं होता, तो यह बात कैसे हो सकती थी कि, यह चेतनायुक्त जीव होकर भी इस थोड़ेसे कुत्सित भोजनमें तो आसक्त रहता और अमृत सरीखे स्वादिष्ट भोजनको ग्रहण नहीं करता। हाय! तो अब यह बेचारा निरोगी कैसे होगा? क्या उपाय करूं? हां, ज्ञात हुआ, मेरे पास इसे नीरोग करनेकी तीन बहुत अच्छी औषधियां हैं।

उनमेंसे पहला तो विमलालोक नामका उत्तम अंजन है, जो सब प्रकारके नेत्ररोगोंको दूर कर सकता है और यदि वह विधिपूर्वक लगाया जावे, तो मैं समझता हूं कि, भूत और भविष्यतकालसम्बन्धी तथा सूक्ष्म और दूरवर्ती[1] पदार्थोंको देखनेमें वह मुख्य कारण होगा। अर्थात् इस अंजनके प्रसादसे वह सब कुछ देखने लगेगा। दूसरी औषधि तत्त्वप्रीतिकर नामका तीर्थजल है। वह सब रोगोंको क्षीण कर डालता है। विशेष करके उन्मादको मिटाता है

---

१ सुमेरु आदि।

और विद्वानोंका कथन है कि, चतुरदृष्टि होनेका वह एक प्रधान उपाय है। और तीसरी औषधि यही महाकल्याणक नामका परमान्न है जो कि अभी इसके सम्मुख लाया गया है। यह सब ही प्रकारकी व्याधियोंको जड़से नाश कर सकता है। यदि विधिपूर्वक प्रयोग किया जावे, तो यह कान्ति, पुष्टता, धीरज, बल, मनकी प्रसन्नता, उत्साह, अवस्थाकी (उमर की) स्थिरता, पराक्रम, और अजरअमरपना उत्पन्न करता है। इसमें सन्देह नहीं है। मैं संसारमें इससे अधिक अच्छी और किसी औषधिको नहीं समझता हूं। इस लिये अब मुझे इन औषधियोंका क्रमसे प्रयोग करके इस बेचारे रंकको व्याधियोंसे अच्छी तरहसे मुक्त कर देना चाहिये।" धर्मबोधकरने अपने चित्तमें इस प्रकारका निश्चय कर लिया।

इसके पीछे उसने शलाका (सलाई) लेकर और उसकी नोकपर अंजन लगाकर भिखारीकी आखोंमें उसके यहां वहां गर्दन हिलाने और नेत्र बन्द करनेपर भी आंज दिया। यह विमलालोक अंजन आल्हादक (प्रसन्न करनेवाला) था, ठंडा था, और अचिन्तनीय गुणवाला था। इसके लगानेके बाद ही निष्पुण्यकको फिर चेतना आगई–होश आगया। थोड़ी देरमें उसने नेत्र खोल दिये। उसके सारे रोग नष्ट सरीखे हो गये, और चित्तमें कुछेक आल्हादित होकर वह विचारने लगा कि, यह क्या हो गया? परन्तु पहले अभ्यासके कारण अपनी उस भीखकी रखवाली करनेके अभिप्रायको वह नहीं छोड़ सका। अर्थात् उसकी आकुलता उस समय भी उसे बनी रही। वह चिंता करने लगा कि, हाय! यह तो निर्जन स्थान है–दूसरा यहां कोई भी नहीं है, इस लिये कोई मेरी भिक्षा अवश्य ही ले जायगा, और फिर भाग जानेकी इच्छासे चारों दिशाओंकी ओर बारंबार दृष्टि दौड़ाने लगा।

इसके अनन्तर अंजनके लगानेसे सचेत हुआ देखकर धर्मबोधकरने निष्पुण्यकसे मीठे शब्दोंमें कहा कि, "हे भद्र! अब इस संतापको शमन करनेवाले जलको पी, जिससे तेरा शरीर भली भांति स्वस्थ हो जाय।" परन्तु "न जाने इसके पीनेसे मेरी क्या दशा होगी," ऐसी शंकासे व्याकुल होकर उस मूर्खने उस जलको नहीं पीना चाहा। यह देख उसके नहीं चाहते हुए भी अतिशय दयालु धर्मबोधकरने वह जल उसका मुंह फाड़कर जबर्दस्ती पिला दिया। क्योंकि वह बहुत ही हितकारी था। उसके पीते ही निष्पुण्यक स्वस्थ सरीखा हो गया। उसे जो बड़ा भारी उन्माद था, वह एक प्रकारसे नष्ट हो गया, व्याधियां हलकी पड़ गईं और सारे शरीरमें दाह उत्पन्न होनेसे जो पीड़ा होती थी, वह दूर हो गई। क्योंकि वह जल शीतल था, अमृतके समान मीठा था, चित्तको प्रसन्न करनेवाला था और संतापको नाश करनेवाला था। उस समय सारी इन्द्रियोंके प्रसन्न होनेसे तथा निर्मल चेतनाके उत्पन्न होनेसे वह अपने स्वस्थअन्तरात्माके द्वारा विचारने लगाः—"खेद है कि मुझ पापी तथा महामोहसे घिरे हुए मूर्खने इस अतिशय प्रेमभाव वा वात्सल्य रखनेवाले महात्माको ठग समझ रक्खा था। इस महाभाग्यने मेरे नेत्रोंमें अंजन डालकर मेरी बुरी दृष्टिको दूर कर दी है और इस जलको पिलाकर मेरे हृदयमें उत्कृष्ट स्वस्थता उत्पन्न कर दी है अर्थात् मुझे निराकुल—सुखी कर दिया है। अतएव यह मेरा बड़ा भारी उपकारी है। भला मैंने इसका क्या उपकार किया है? महानुभावताको छोड़कर इसका प्रवर्तक कोई दूसरा भाव नहीं है। अर्थात् इसने अपनी सज्जनताके कारण ही मेरी भलाई की है।" निष्पुण्यक ऐसा विचार करता था, तो भी उस भिक्षाके बुरे भोजनमें उसकी जो अत्यन्त प्रीति थी, वह किसी प्रकारसे नहीं हटी। क्योंकि उसका चित्त उस भोजनकी ही गाढ़ी भावनामें लवलीन हो रहा था।

तदनन्तर निष्पुण्यकको उस ठीकरेके भोजनकी ओर ही वारवार दृष्टि डालते देखकर और उसका अभिप्राय जानकर धर्मबोधकरने कहा, "अरे दुर्बुद्धि भिक्षुक! क्या तू यही नहीं जानता है कि, तुझे यह कन्या परमान्नका (खीरका) भोजन देना चाहती है? अपने घिनौने भोजनकी लोलुपताके कारण तू यह मेरा दिलाया हुआ अमृतके समान भोजन भी निराकुलतासे नहीं लेता है, इससे मैंने अच्छी तरहसे निश्चय कर लिया है कि, यद्यपि इस नगरमें और भी बहुतसे पापी भिखारी हैं, परन्तु तेरे समान अभागा और कोई नहीं है। हमारे इस राजमहलके बाहिर बहुतसे दुखी जीव रहते हैं, परन्तु उन-पर हमारा आदरभाव नहीं है। क्योंकि उनकी ओर हमारे राजाने कभी नहीं देखा है। इस राजभवनको देखकर तेरे हृदयमें कुछ आनन्द उत्पन्न हुआ है, इससे जान पड़ता है कि तुझपर राजाकी दया हुई है। और ऐसा न्याय है कि, "प्रिये प्रियं सदा कुर्युः स्वामिनः सेवका इति।" अर्थात् "जो स्वामीका प्यारा हो, उसपर सेवकोंको भी प्यार करना चाहिये।" सो उसकी पालना करनेके लिये हम तुझपर दयालु हुए हैं। हमारा यह राजा 'अमूढलक्ष्य' है अर्थात् इसकी जांचमें कभी अन्तर नहीं पड़ता है। इसका लक्ष्य उसीपर जाता है, जो योग्य होता है। इसलिये यह अपनी बुद्धि अपात्रकी ओर कभी नहीं करता है, इसका हमको पूरा विश्वास है। परन्तु हमारे इस विश्वासको आज तू असत्य कर रहा है। जरासे घिनौने भोजनमें चित्तको उलझाकर कह तो सही कि, तू इस मीठे स्वादवाले और सारी व्याधियोंके नाश करनेवाले भोजनको क्यों नहीं ग्रहण करता है? अब हे दुर्बुद्धि! तू इस बुरे भोजनको छोड़ दे और इस खीरको प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर। इसके प्रसादसे देख इस राजमहलके सब जीव कैसे आनन्दित हो रहे हैं।"

इस उपदेशसे दरिद्रीको विश्वास तो हो गया और निश्चय भी हो गया। परन्तु उस कुत्सित भोजनके त्याग करनेकी बातसे दीन पड़के वह धर्मबोधकरसे इस प्रकार कहने लगा कि,– " हे नाथ! आपने जो कुछ कहा, वह मुझे सच मालूम होता है। परन्तु मैं एक बात कहता हूं, उसे सुन लीजिये। यह जो मेरे ठीकरेमें भोजन रक्खा हुआ है, वह स्वभावसे ही मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारा जान पड़ता है। इसे मैंने बड़े भारी क्लेशसे उपार्जन किया है और समय पड़नेपर इससे मेरा निर्वाह होना भी संभव है। इसके सिवाय आपका यह परमान्न मेरे लिये कैसा होगा, यह भी मैं नहीं जानता हूं। इसलिये हे स्वामी! मैं इस भोजनको किसी भी प्रकारसे नहीं छोड़ सकता हूं! सो यदि आपकी इच्छा देनेकी हो, तो मेरे भोजनको मेरे पास रहने दीजिये और अपना भोजन दे दीजिये।"

धर्मबोधकर उसका यह अभिप्राय सुनकर मनमें विचारने लगा,– " देखो अचिन्तनीय सामर्थ्यके धारण करनेवाले महा मोहकी चेष्टा कैसी विलक्षण है, जो यह दरिद्री अज्ञानतासे सारी व्याधियोंके करनेवाले अपने घिनौने भोजनमें लवलीन हो रहा है और उसके साम्हने मेरे इस परमान्नको तृणके समान भी नहीं समझता है। तो भी इस बेचारेको एक बार फिर भी कुछ शिक्षा देता हूं। यदि समझानेसे मोह विलाय जायगा–अज्ञान नष्ट हो जायगा, तो इसके लिये बहुत अच्छा होगा।" ऐसा समझकर उस धर्मबोधकरने कहा,– "हे भद्र! क्या तू यह नहीं जानता है कि, तेरे शरीरमें जितने रोग हैं, वे सब इस कुत्सित भोजनके कारणसे हैं? और सब जीवोंको भी इस खराब भोजनके भक्षण करनेहीसे सब प्रकारके दोषोंका प्रकोप होता है। इसलिये जिनकी बुद्धि निर्मल है, उन सबहीको

ऐसे भोजनका त्याग कर देना चाहिये। और जो तू इस भोजनको अच्छा जानता है, सो तेरे अन्तःकरणमें विपर्यास अर्थात् मिथ्यात्व भाव है, इस कारण जानता है। परन्तु यदि तू वास्तवमें मेरे भोजनका स्वाद जान जायगा, तो रोकते हुए भी तू स्वयमेव अपने कुभोजनको छोड़ देगा। क्योंकि–"को नामामृतमास्वाद्य विषमापातुमिच्छति।" अर्थात् ऐसा कौन है, जो अमृतका आस्वादन करके फिर विषके पीनेकी इच्छा करता हो? इसके सिवाय क्या तू मेरे अंजनकी शक्तिको और जलके माहात्म्यको नहीं देख चुका है, जो मेरे इस परमान्नसम्बन्धी वचनोंको नहीं मानता है। और हे सौम्य! जो तू यह कहता है कि, मैंने बड़े क्लेशसे उपार्जन किया है, इसलिये इसे नहीं छोड़ सकता हूं, सो उसके विषयमें भी अब तू मोहको छोड़ करके सुन कि,–तेरा भोजन क्लेशसे उपार्जित हुआ है, वर्तमानमें क्लेशरूप है और भविष्यमें भी क्लेशका करनेवाला है। इसलिये इसे छोड़ देना चाहिये। और जो तू कहता है कि समय पड़नेपर इससे मेरा निर्वाह होना संभव है, सो उसका उत्तर भी विपरीत भावको छोड़कर सुन,–अनन्त दुःखोंको करनेवाला यह कुभोजन यद्यपि समयपर निर्वाह करनेवाला है, परन्तु तेरे जैसे दुखियासे क्या यह सर्वदा स्थिर रह सकता है? अर्थात् क्या तू इसे सदा बनाये रख सकता है? और जो तूने यह कहा कि, "मैं नहीं जानता हूं कि, यह तुम्हारा भोजन मेरे लिये कैसा होगा।" सो मैं जो कुछ कहता हूं, उसमें विश्वास लाकर सुन,–"मैं तुझे विना कष्टके जितना तू चाहेगा, उतना यह परमान्न निरन्तर दिया करूंगा। इस लिये किसी भी प्रकारकी आकुलता न रखके तू इसे ग्रहण कर। यह भोजन सारी व्याधियोंको जड़से हटा देता है, और संतोष, पुष्टि, बल, कान्ति और वीर्यादिको

भी बढ़ाता है। और अधिक कहनेसे क्या ? जिस प्रकार यह राजेन्द्र अजर अमर और सदा आनन्दपूरित होकर रहता है, उसी प्रकारसे तू भी इस भोजनके बलसे अक्षय और आनन्दमय होकर रहेगा। इस लिये हे भद्र! तू आग्रहको त्यागकर सारे रोगोंके करनेवाले अपने इस कुभोजनको छोड़ दे और अतिशय आनन्दकारी इस परम औषधिरूप परमान्नको ग्रहण कर।"

वह बोला, "हे पूज्य! इस कुभोजनके छोड़ते ही मैं इसके स्नेहके विभ्रमसे मर जाऊंगा। इसलिये इसे मेरे पास रहते हुए ही आप अपनी औपधि दे दीजिये।" तब निष्पुण्यकका आग्रह जानकर धर्मबोधकरने सोचा कि, "इस समय इसके समझानेका और कोई अच्छा उपाय नहीं है, इसलिये इसे अपना कुभोजन लिये रहने दो और यह परमान्नरूप औपधि दे दो। पीछे जब यह इसकी उत्तमता जानेगा, तब स्वयं ही अपनी भीखको छोड़ देगा।" ऐसा जानकर उसने कहा कि, "हे भद्र! अभी तो तू यह परमान्न ले ले और इसका उपयोग कर।" यह सुनकर जब भिखारीने कहा कि, "अच्छा दो," तब धर्मबोधकरने तद्दयाको इशारा किया और तदनुसार उसने दरिद्रीको वह परमान्न दे दिया, सो उसने वहीं बैठकर तत्काल ही उसे खा लिया।

इसके पीछे उस उत्तम भोजनके उपयोगसे निष्पुण्यककी भूख शान्त हो गई और उसके सारे शरीरमें जो अनेक रोग हो रहे थे, वे एक प्रकारसे मिटे जैसे हो गये। इसके सिवाय पहले अंजनसे और जलसे उसे जो सुखकी प्राप्ति हुई थी, वह इस भोजनके करनेसे अनन्तगुणी हो गई। इससे उस दरिद्रीके हृदयमें भक्ति उत्पन्न हुई, और शंकाएं नष्ट हो गईं। प्रसन्न होकर वह उससे बोला,—"मैंने

आपके साथ कोई भी उपकार नहीं किया, तो भी आपने मुझ अभागी और सबसे नीच जीवपर इस प्रकार दया की है। इस लिये अब आपके सिवाय मेरा कोई दूसरा नाथ नहीं है।"

यह सुनकर धर्मबोधकर बोला, "हे भद्र! यदि ऐसा है, तो मैं जो कहता हूं, उसे थोड़ी देर बैठके सुन ले और फिर उसके अनुसार आचरण कर।" दरिद्री विश्वास करके उसके पास बैठ गया और तब भलाई करनेकी इच्छासे सुन्दर वचनोंके द्वारा उसके मनको प्रसन्न करता हुआ धर्मबोधकर बोला,–"हे भाई! तू कहता है कि, अब मेरा तुम्हारे सिवाय कोई दूसरा नाथ नहीं है, सो ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तेरे तो ये राजराजेश्वर स्वामी हैं। ये भगवान् इस लोकमें भरे हुए सारे चर अचर प्राणियोंके नाथ हैं। और इस राजभवनमें जो २ प्राणी रहते हैं, उनके तो ये विशेष करके नाथ हैं। जो कल्याणके पात्र अर्थात् भव्यपुरुष इन राजराजेश्वरकी सेवकाई करते हैं, उनके तीनों भुवनके जीव थोड़े ही दिनमें सेवक हो जाते हैं। अर्थात् वे भी राजराजेश्वरके समान हो जाते हैं। परन्तु जो अत्यन्त पापी (अभव्य) जीव सुखके पात्र होनेके योग्य नहीं हैं, वे बेचारे तो इन नरनाथका नाम भी नहीं जानते हैं। और इन महात्माके राजभवनमें जो 'भाविभद्र' दिखलाई देते हैं, जिन्हें कि 'स्वकर्मविवर' द्वारपालने भीतर प्रवेश करने दिया है, वे सब राजाको वास्तवमें अच्छी तरहसे जानते हैं। इसमें सन्देह नहीं है। पर जो प्राणी मुग्ध हैं, वे यहां प्रवेश करनेके पीछे मेरे कहने पर राजाको विशेपतासे जानते हैं। अतएव हे भद्र! जबसे तूने सुपुण्यके कारण इस राजभवनमें प्रवेश किया है, तबसे तो ये नरेन्द्र तेरे नाथ हुए ही हैं। अब केवल मेरे वचनसे तू यावज्जीव शुद्ध मन-

से इन्हें नाथबुद्धिसे अच्छी तरहसे पहिचान। और फिर ज्यों २ तू इन महाराजकी गुणरूप औषधियोंका अधिक सेवन करेगा, त्यों २ तेरे शरीरके सब रोग कम होते जावेंगे। इन तीनों औषधियोंका वारंवार सेवन करना ही सारे रोगोंके हलके करनेका और अन्तमें नाश करनेका एक उपाय है। इसलिये हे सौम्य! किसी भी प्रकारका संशय न रखके मेरी इन तीनों औषधियोंका वारंवार विधिपूर्वक सेवन करता हुआ आनन्दसे इस राजभवनमें रह। इससे तेरे सारे रोग नष्ट हो जावेंगे और फिर तू राजराजेश्वरका भलीभांति आराधन करनेसे स्वयं श्रेष्ठ राजा हो जावेगा। यह 'तद्दया' तुझे प्रतिदिन तीनों औषधियां दिया करेगी। अब इस विषयमें और अधिक क्या कहूं? सारांश कहनेका यही है कि तुझे इन तीनों औषधियोंका निरन्तर सेवन करना चाहिये।"

धर्मबोधकरके इस प्रकार कोमल वचन सुनकर निष्पुण्यक अपने मनमें प्रसन्न हुआ और अपने अभिप्रायोंको स्थिर करके बोला— "महाशय! अब भी मैं पापात्मा अपने इस कुभोजनको नहीं छोड़ सकता हूं, इस लिये इसके छोड़नेके सिवाय और जो कुछ मेरे करने योग्य हो उसे कहिये"।

यह सुनकर धर्मबोधकरके चित्तमें यह बात आई कि, "जब मैं इससे केवल तीन औषधियोंके सेवनकी बात कहता हूं, तब फिर यह इस प्रकार कुछका कुछ क्यों बोलता है? मैं इससे इस अन्नके छोड़नेकी बात तो कहता ही नहीं हूं। हां! अब मालूम हुआ। यह अपनी तुच्छता (ओछाई) के कारण मनमें ऐसा विचार रहा है कि, इन्होंने जो कुछ कहा है, वह सब मेरे भोजनके छुडानेके लिये कहा है। क्योंकि,—

क्लिष्टचित्तो जगत्सर्वं मन्यते दुष्टमानसम् ।
शुद्धाभिसन्धयः सर्वं शुद्धचित्तं विजानते ॥ २९० ॥

अर्थात् " जिनका चित्त मलीन रहता है, वे सारे संसारको दुष्टचित्त मानते हैं और जिनके अभिप्राय शुद्ध होते हैं–निर्मल होते हैं, वे सारे जगतको शुद्धचित्त समझते हैं।"

इस प्रकार विचार करके उसने हंसकर कर कहा, "हे भद्र। तू कुछ भी भय मत कर। अभी मैं तुझसे इस कुभोजनके छोड़नेके लिये नहीं कहता हूं। इसे तू निराकुल होकर भोगा कर। पहले मैं जो तुझसे यह कुभोजन छुड़वाता था, सो केवल तेरा भला करनेकी बुद्धिसे छुड़वाता था। परन्तु यदि तुझे छोड़नेकी बात नहीं रुचती है, तो इस विषयमें मेरा चुप रहना ही ठीक है। पर यह तो कह कि, मैंने जो तुझे पहिले करने योग्य बातोंका उपदेश दिया था, सो तूने थोड़ा बहुत धारण किया या नहीं?"

निष्पुण्यक बोला,–"नाथ! आपने जो कुछ कहा था, वह तो मैंने जरा भी नहीं सुना है—उसपर मेरा ध्यान ही नहीं था। मैं तो केवल आपके कोमल वार्तालापसे चित्तमें प्रसन्न हुआ हूं। क्यों कि,—

अज्ञातपरमार्थापि सतां नूनं सरस्वती
चेतोऽतिसुन्दरत्वेन प्रीणयत्येव देहिनाम् ॥ २९१ ॥

अर्थात्–सज्जन पुरुषोंकी वाणीका वास्तविक अर्थ (परमार्थ) भले ही समझमें न आवे, परंतु वह अपनी अतिशय सुन्दरताके कारण प्राणियोंका चित्त प्रसन्न करती ही है। जिस समय आप उपदेश देते थे, उस समय नेत्र तो मेरे आपके सम्मुख थे, परंतु चित्त कहीं अन्यत्र ही था। इस लिये आपके वचन मेरे एक कानमेंसे प्रवेश करते थे और दूसरे कानमेंसे निकल जाते थे। अब मैं निराकुल

हूं, किसी भी प्रकारका भय नहीं रहा है। इसलिये अपने चित्तकी उस चंचलताका कारण कहता हूं,—

जिस समय दया करनेमें तत्पर रहनेवाले आपने मुझे भोजन देनेके लिये बुलाया था, उस समय मेरे हृदयमें यह शंका थी कि, यह मनुष्य मुझे किसी स्थानमें ले जाकर मेरे इस भिक्षाभोजनको छीन लेगा। इस अभिप्रायके वश अतिशय ध्यान करनेसे मैं चेतना-हीन हो गया। पश्चात् प्रीति करनेवाले आपने जब मुझे अंजन लगाकर सचेत किया, तब मैंने सोचा कि, यहांसे शीघ्र ही भाग जाऊं। परंतु जब आपने अपना अपूर्व पानी पिला कर मेरा शरीर शीतल किया और सुन्दर वार्तालाप किया, तब आपपर विश्वास आ गया। मैंने सोचा कि, जब ये मेरे ऐसे उपकारी हैं, और बड़ी भारी विभूतिवाले हैं—धनी हैं, तब मेरा भोजन छीननेवाले कैसे हो सकते हैं? इसके पीछे जब स्वामीने (आपने) कहा कि, "इसे छोड़ दो और इस भोजनको ग्रहण करो।" तब इस चिन्तासे कि "अब मैं क्या करूं" मेरा चित्त आकुल व्याकुल हो गया। मैं सोचने लगा कि, मेरा भोजन यह स्वयं तो नहीं लेता है, केवल छुड़वाता है। परन्तु मैं इसे छोड़ भी तो नहीं सकता हूं। तब इसे क्या उत्तर दूं? अन्तमें मैंने कहा कि, मेरा भोजन तो मेरे पास रहने दीजिये और आप जो देना चाहते हैं, वह दे दीजिये। पश्चात् आपने जब मुझे 'परमान्नभोजन' दिलाया, तब उसके आस्वादसे मुझे और भी विश्वास हो गया कि, आप मुझपर अत्यन्त प्रीति रखते हैं। इसके उपरान्त मैंने सोचा, तो क्या इस महात्माके वचन मानकर मैं अपना भोजन छोड दूं? नहीं! जो मैं इसे छोड़ दूंगा, तो इसपर जो मेरी ममता है उसके कारण मैं व्याकुलचित्त होकर मर जाऊंगा। यद्यपि यह जो कहता है,

वह वास्तवमें ठीक है, परन्तु मेरी शक्ति नहीं है कि, मैं अपने भोजनको छोड़ दूं। हाय! मुझपर यह कैसा दुस्तर दुःख आके पड़ा है! इस प्रकार नाना प्रकारके विचारोंकी व्याकुलतामें पड़े रहनेसे हे नाथ! आपने अभीतक जो कुछ कहा, वह सब भरे हुए घडेमें और पानी डालनेके समान चारों ओरसे वह गया। मेरे मनकी बात जानकर अब जब आपने यह कहा है कि मैं तुझसे भोजन छोड़नेके लिये नहीं कहता हूं, तब मुझे थोड़ीसी निराकुलता मालूम हुई है। इस लिये हे नाथ! अब ऐसे नीचचित्तवाले मुझ पापीको क्या करना चाहिये, सो बतलाइये, जिससे मैं उसे धारण करूं।"

यह सुनकर दयावान् धर्मबोधकरने पहले जो बातें संक्षेपसे कहीं थीं, उन्हींको फिर खूब विस्तारके साथ समझा दीं। और उसे अंजनके, जलके, अन्नके और विशेष करके राजाके गुणोंसे प्रायः अजान समझकर यह कहा कि, हे भाई! राजाने मुझे पहले आज्ञा दी थी कि, मेरी ये तीनों औषधियां तुम योग्य पात्रको ही देना, अपात्रको नहीं। क्योंकि अपात्रको देनेसे इनसे कुछ भी उपकार नहीं होगा —उलटा अनर्थ ही घटनेकी संभावना है। उस समय राजासे मैंने पूछा था कि, मैं यह कैसे जान सकूंगा कि पात्र कौन है और अपात्र कौन है? तब राजाने कहा था कि, "मैं उनके लक्षण कहता हूं,—जब तक कोई रोगी योग्यताको प्राप्त नहीं होता, तबतक उसे 'स्वकर्मविवर' द्वारपाल इस राजभवनमें नहीं आने देता है। हमने उसे आज्ञा भी दे रक्खी है कि, तू उन्हीं मनुष्योंको यहां आने देना; जो इन तीनों औषाधियोंके ग्रहण करनेके योग्य हों, दूसरोंको नहीं। यदि कभी कोई अयोग्य पुरुष भी यहां आ जावें, तो वे हमारा राजमन्दिर देखके प्रसन्न नहीं होंगे और हमारी दृष्टि भी विशेषतासे उनका निरीक्षण नहीं

करेगी। इसलिये उन्हें किसी द्वारपालने किसी तरह भीतर चला आने दिया है, ऐसा समझना चाहिये और ऐसे प्राणियोंको दूसरे चिन्होंसे पहिचानकर तुम्हें भी प्रयत्न करके रोक देना चाहिये। जो रोगी राजभवनको देखकर प्रसन्न होते हैं, उनका भविष्यमें कल्याण होनेवाला होता है, इसलिये हम उनकी ओर विशेषतासे देखते हैं। जिन्हें स्वकर्मविवरने यहां आने दिया हो, उन्हें तुम इन तीनों औषधियोंके पानेके पात्र समझो। वास्तवमें ये तीनों औषधियां ही उन पात्रों और अपात्रोंके लिये कसोटीके समान है, जो कि प्रयोग करनेसे अपने गुणोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य और नहीं ग्रहण करने योग्यकी जांच कर देती हैं। जिन रोगियोंको ये औषधियां पहले तो रुचें और फिर पीछे किसी प्रकारके कष्टके विना प्रयोग करनेसे गुण करें, उन्हें सुसाध्य रोगी समझना चाहिये। जो आदिमें तो ग्रहण नहीं करें, परन्तु पीछे कालक्षेप करके बलपूर्वक इन औषधियोंका सेवन करें, उन्हें पीछे सुधरनेवाले कष्टसाध्य समझना चाहिये। और जिन्हें ये औषधियां विलकुल न रुचें, प्रयोग करनेपर भी जो कुछ असर न करें तथा औषधि देनेवालेपर उलटा द्वेष करने लगें, उन नीच पुरुषोंको समझना चाहिये कि, सर्वथा असाध्य हैं।"

इस प्रकारसे राजराजेन्द्र सुस्थित महाराजने मुझे जो कुछ समझाया था, उसके अनुसार लक्षण मिलानेसे तू मुझे 'कष्टसाध्य' जान पड़ता है। इस संसारमें जो प्राणी शंकारहित होकर जबतक जीते हैं तब तक इस नरेन्द्रको विशेषतासे अपना स्वामी जानते हैं, उन्हें ही इन औषधियोंका प्रयोग जो कि अचिन्तनीय पराक्रमोंसे परिपूर्ण और सम्पूर्ण रोगोंका नाश करनेवाला है, गुणकारी होता है। इसलिये तू इस श्रेष्ठ राजाको अपना स्वामी समझ। क्योंकि "भावसारं महात्मानो

भक्तिग्राह्या यतः स्मृताः ” महात्मा पुरुष भावपूर्वक भक्तिसे ही ग्राह्य होते हैं । अर्थात् उत्तम परिणामोंसे सेवा करनेसे ही महात्मा प्रसन्न होते हैं । हे भाई । पहले भी रोगपीड़ित अनन्त प्राणी इस राजेश्वरको स्वामीभावसे स्वीकार करके प्रसन्न और कृतकृत्य हो चुके हैं । तेरे रोग बहुत बलवान् हैं, साथ ही तेरा मन अपथ्य सेवन करनेमें भी बहुत आसक्त रहता है; इससे विना बड़ भारी यत्नके तेरे रोगोंका नाश हो जाना समझमें नहीं आता है । अतएव हे वत्स! प्रयत्नशील होकर अपने मनको निश्चल करके तू इसी विस्तृत राजमन्दिरमें निराकुलतासे रह और इस कन्याके हाथसे बांटी हुई ये तीनों औषधियां क्षण क्षणमें ग्रहण करके अपनेको निरोगी कर ।

इसके पश्चात् निष्पुण्यकने “ स्वीकार है ” ऐसा कहकर धर्मबोधकरके वचन अंगीकार किये और उसने भी तद्दयाको उसकी परिचारिका बना दी। तब निष्पुण्यकने अपने भिक्षापात्रको एक ओर रख दिया और उसकी रखवाली करते हुए वह कुछ समय तक वहीं रहा।

तद्दया वे तीनों औषधियां उसे निरन्तर देती थीं, परन्तु वह अपने कुभोजनकी ममताके कारण उन औषधियोंका बिलकुल ही आदर नहीं करता था। अर्थात् उन औषधियोंपर उसका प्रेम नहीं था। इसके सिवाय मोहके कारण वह अपना कुभोजन बहुतसा खा लेता था, जिससे तद्दयाका दिया हुआ भोजन वह केवल उपदंशके समान (चाट सरीखा) सेवन करता था। अभिप्राय यह है कि जिस तरह मद्यपान करनेवाले मद्य पीकर ऊपरसे कुछ थोड़ी सी चाट खाते हैं, उसी प्रकारसे अपना कुभोजन कर चुकनेपर वह 'महाकल्याणक' को केवल चाटके समान खाता था—अधिक नहीं खाता था। उसका दिया हुआ अंजन भी वह कभी २ ही नेत्रोंमें आंजता था—

हररोज नहीं। और तीर्थका जल तो जब वह कहती थी; तब ही पीता था। इसके सिवाय तद्दया जो प्रसन्नतासे बहुतसा महाकल्याणक भोजन दे देती थी, उसमेंसे वह थोड़ासा तो खा लेता था और बाकी अपने ठीकरेमें डाल देता था। इससे यद्यपि वह अपने कुभोजनको निरन्तर खाता था, तथापि महाकल्याणकके सान्निध्यसे अर्थात् उसके निरन्तर पड़ते रहनेसे वह कुभोजन कभी समाप्त नहीं होता था। अपने कुभोजनकी इस प्रकार बढ़ती देखकर निष्पुण्यक बहुत ही संतुष्ट होता था, परन्तु जिसके माहात्म्यसे वह कदन्न बढ़ता था, उसे नहीं जानता था। उसमें और और अधिक लोलुप होता हुआ उक्त तीनों औषधियोंको प्रेमसे सेवन करनेमें शिथिल होता जाता था। उनके गुण जाननेपर भी नहीं जाननेवालेके समान अपने कुभोजनमें मोहित होकर कालक्षेप करता था। इस तरह प्रतिदिन भरपेट अपथ्य सेवन करनेसे और उक्त तीनों औषधियोंका अनादरपूर्वक आस्वाद करनेसे उस दरिद्रीके विशेष रोग तो नष्ट नहीं हुए, किन्तु उस उतने ही उत्तम भोजनके प्रयोगने जिसे कि वह अवज्ञापूर्वक करता था, बड़ा भारी गुण किया। अर्थात् उसके रोग क्षीण हो गये। तथापि आत्मज्ञानके अभावसे, उच्छृंखलतासे और अपथ्य सेवनसे वे रोग अपना विकार कभी २ उसके शरीरपर प्रगट किये विना नहीं रहते थे। कभी शूल, कभी दाह, कभी मूर्च्छा, कभी ज्वर, कभी वमन, कभी जडता (शरीरशून्यता), कभी हृदय और पसलियोंमें पीड़ा, कभी उन्मादका दुःख, और कभी पथ्यभोजनमें अरुचि आदि नाना प्रकारके विकारोंवाले रोग उत्पन्न होते थे।

एकवार दयावती तद्दयाने उसे ऊपर कहे हुए विकारोंसे दुखी और रोते हुए देख विचार करके कहा कि "हे भाई! तुझसे मेरे

पिताने तो पहले ही कहा था कि तेरे शरीरमें जो सब प्रकारके रोग हैं, वे तेरे इस बहुत प्यारे भोजनके कारणसे ही हैं। मैं तेरा सब वृत्तांत देखती हूं परन्तु तोभी तुझे कहीं आकुलता न हो जावे, इस लिये उस कुभोजनको भक्षण करते हुए देखकर भी नहीं रोकती हूं। इन परमस्वास्थ्यकारी तीनों औषधियोंके सेवनमें तो तू शिथिल रहता है और सारे दुःखोंका करनेवाला यह कुभोजन तुझे रुचता है। इस तरह अपने आप ही तो तू कष्टमें पड़ता है और फिर रोता है। परन्तु अब तुझे नीरोग करनेका कोई उपाय नहीं है। क्यों कि "अ-पथ्येऽत्यर्थं सक्तानां न लगत्येव भेषजम्" अर्थात् जो रोगी अपथ्य पदार्थोंके सेवन करनेमें अतिशय आसक्त रहता है, उसे औषधि लगती ही नहीं है। मैं तेरी परिचारिका हूं, इसलिये तेरे रोगी रहनेमें मेरी भी अपकीर्ति होती है। परन्तु क्या करूं? अब मैं तुझे सदा नीरोग नहीं रख सकती हूं।"

यह सुनकर निष्पुण्यक बोला, "यदि ऐसा है, तो अबसे तुम मुझे कुभोजन करते समय निरन्तर निवारण कर दिया करो। क्योंकि अतिशय लालसाके कारण स्वयं तो मैं इसे छोड नहीं सकता हूं, परन्तु थोड़ा थोड़ा छोड़ते रहनेसे कदाचित् तुम्हारे प्रभावसे इस सारे कुभोजनको भी छोड़नेकी शक्ति मुझमें हो जायगी।"

तद्दया बोली,—"अच्छा है। अच्छा है। हे भद्र! तुम सरीखे प्राणि-योंको ऐसा कहना ही उचित है।" यह कह कर फिर वह उसे अधिक कुभोजन करनेसे रोकने लगी और ऐसा करनेसे अर्थात् अधिक कुभो-जनके न करनेसे उसके सारे रोग क्षीण होने लगे और शरीरमें औष-धियोंके असर होनेसे रोगोंकी पीड़ा भी अधिक नहीं रही। परन्तु तद्दया जब उसके पास रहती थी, तभी वह पथ्यसे रहता था और अपथ्य

थोड़ा खाता था। इससे उसके रोग भी हलके हो जाते थे। पर ज्यों ही वह उसे छोड़कर दूर चली जाती थी, त्यों ही वह लम्पटतासे अपना कुभोजन खूब खाने लगता था और औषधिसेवन भी नहीं करता था। इससे अजीर्णसे फिर दुखी होने लगता था।

इधर धर्मबोधकरने तद्दयाको पहलेहीसे सम्पूर्ण लोककी रक्षा करनेके लिये नियुक्त कर रक्खी थी। इसलिये अनन्त प्राणियोंकी रक्षा करनेके काममें लगे रहनेसे वह उस दरिद्रीके पास कभी २ आ सकती थी। बाकी समयमें वह स्वतंत्र रहता था,—कोई रोकता नहीं था, इससे वह वारंवार रोगके विकारोंसे पीड़ित होता था और उसे वे भय उन्माद आदि फिरसे हो जाते थे।

एकवार धर्मबोधकरने निष्पुण्यकको इस प्रकार दुखी देखकर पूछा,—"हे भाई! यह क्या है?" तब उसने अपना सब वृत्तान्त निवेदन किया और कहा,—"स्वामी! तद्दया मेरे पास हमेशा नहीं रहती है और उसके न रहनेसे मेरे रोग विशेषतासे प्रगट हो जाते हैं। इसलिये हे नाथ! आप कोई ऐसा अच्छा उपाय कर देवें, जिससे स्वप्नमें भी मेरे शरीरमें पीड़ा उत्पन्न न हो।" धर्मबोधकर बोला—"हे वत्स! तुझे जो कुछ पीड़ा होती है, वह अपथ्यसेवनसे होती है। और यह तद्दया जो तुझे अपथ्यसेवन करनेसे रोकती है, दूसरे कार्योंमें नियुक्त रहनेके कारण व्याकुल रहती है, इससे तुझे निरन्तर नहीं रोक सकती है। अस्तु, अब जो अपथ्यसेवन करनेसे तुझे सदा रोकती रहै, ऐसी कोई उत्तम परिचारिका मैं तेरे लिये नियुक्त कर देता हूं। परन्तु तू अनात्मज्ञ है अर्थात् अपने आत्माको और उसके हितको नहीं जानता है, इस कारण पथ्यसेवनसे पराङ्मुख और कदन्नभक्षण करनेके लिये उद्यत रहता है। इसलिये बतला अब मैं तेरा

क्या करूं?" दरिद्री बोला,—"हे नाथ! ऐसा मत कहो। अब मैं आगे आपकी आज्ञाका कभी उल्लंघन नहीं करूंगा।" यह सुनकर और थोड़ासा विचार करके उसका हित करनेमें उद्यत रहनेवाले धर्मबोध-करने तत्काल ही कहा,—"अच्छा तो मेरी आज्ञानुसारिणी एक सद्बुद्धिनामकी स्त्री है। वह आकुलतासे रहित है, सो उसे मैं तेरी विशेष परिचारिका बनाता हूं। मेरी नियत की हुई वह परिचारिका तेरे पास निरन्तर रहकर पथ्यापथ्यका विवेचन किया करेगी। मैंने उसे तेरे ही लिये दी है। सो अब तू अपने चित्तमें दुखी नहीं होना। परन्तु वह केवल विशेषज्ञा ही है अर्थात् हिताहितका विचार ही कराती है। विपरीत चलनेवाले और अनादर करनेवाले पुरुषोंका उससे उपकार नहीं होता है। इसलिये यदि तुझे सुख पानेकी इच्छा है और दुखसे यदि तू डरता है तो वह जो कुछ कहेगी, उसे तुझे करना ही होगा। और मेरा भी यही कहना है कि, उसकी आज्ञानुसार चलना। क्योंकि जो उसे नहीं रुचता है, वह मुझे भी रुचिकर नहीं होता है। इसके सिवाय हे भद्र! यद्यपि तद्दया अनेक कामोंमें व्याकुल रहती है, तो भी तेरे पास बीच २ में आया करेगी और तुझे और भी जागृत कर जाया करेगी। यह परमार्थकी बात मैं केवल तेरा हित करनेकी इच्छासे कहता हूं कि,—यदि तू सुख चाहता है तो तुझे सद्बुद्धिके विषयमें निरन्तर यत्न करना चाहिये। अर्थात् उसके अनुकूल चलकर उसे प्रसन्न रखना चाहिये। जो मूर्ख सद्बुद्धिका भले प्रकार आराधन करके उसे प्रसन्न नहीं करते हैं, उनपर न तो राजराजेश्वर प्रसन्न होते हैं, न मैं प्रसन्न होता हूं, और न अन्य कोई प्रसन्न होते हैं। जिनपर उसकी अप्रसन्नता होती है, वे सदा ही दुःखोंके पात्र बने रहते हैं। क्योंकि

संसारमें सुख पानेका इसके सिवाय और कोई दूसरा कारण ही नहीं है। इसके सिवाय वह तेरे स्वाधीन रहती है—समीप रहती है, हम सरीखे तो सब दूर रहनेवाले हैं—तुझे वही सुखकी कारण है। इसलिये अपने सुखके लिये तुझे उसीका आराधन करना चाहिये।"

दरिद्रीके स्वीकार करनेपर धर्मबोधकरने सद्बुद्धिको उसकी परिचारिका बना दी और तबसे वह उसके विषयमें निश्चिन्त हो गया।

सद्बुद्धि जितने दिन निष्पुण्यकके पास रही, उतने दिनोंमें जो कुछ घटनाएं हुई, वे यहां कही जाती हैं:—

पहले तो वह अतिशय लोलुपताके कारण अपने कदन्नको खाता हुआ भी तृप्त नहीं होता था, परन्तु अब खाता है, पर बहुत नहीं खाता है और यह चिन्ता भी नहीं करता है कि, उसे कोई ले जायगा। पहलेका अभ्यास होनेके कारण यदि कभी कदन्नको खाता भी है, तो केवल तृप्तिके लिये खाता है और विशेष आसक्ति नहीं रहनेके कारण उसका स्वास्थ्य भी वह (कदन्न) नहीं बिगाड़ता है। पहले बड़े भारी आग्रहसे अर्थात् कहने सुननेसे वह उक्त तीन औषधियोंको ग्रहण करता था, परन्तु अब उसकी अभिलाषा उनके ग्रहण करनेमें स्वयं बलपूर्वक बढ़ती है। इस प्रकार अहित वस्तुओंमें ग्रहण न करनेके भावसे और हितरूप वस्तुओंमें जी लगानेसे उस समय उसकी जो दशा हुई, उसे कहते हैं,—वे रोग जो हलके हो गये थे, अब शरीरको पीड़ा नहीं पहुंचाते हैं और यदि कहीं कुछ पीड़ा होती है, तो वह भी शीघ्र दूर हो जाती है। अब उसने सुखके स्वादको जान लिया है, उसका जो घिनौना स्वरूप था, वह नष्ट होगया है और निराकुल होनेसे उसके चित्तमें बहुत बड़ा संतोष हुआ है।

एक दिन निष्पुण्यक एकान्तमें निराकुलतासे बैठा हुआ था। उस समय वह अतिशय प्रसन्नतासे सद्बुद्धिके साथ बातचीत करने लगा

कि:—"हे भद्रे। यह मेरा शरीर आश्चर्यकारी क्यों हो गया है? यह पहले तो दुःखोंकी खानि हो रहा था और अब सुखोंकी खानि हो गया है।"

सद्बुद्धिने कहा—"यह सब तेरे भलीभाँति पथ्य सेवन करनेसे और सब प्रकारके दोषोंके मूलभूत अहितकारी भोजनकी लोलुपता छोड़ देनेसे हुआ है। हे भद्र। पहलेके अभ्याससे तू अपने कदन्नको खाता है, तो भी मेरे पास रहनेके कारण तेरे चित्तमें इस कार्यसे बहुत ही लज्जा होती है, और लज्जाके कारण उसका संभोग (खाना) अकार्यरूप हो जाता है। अर्थात् उस कदन्न भक्षणका तेरे शरीरपर कुछ असर नहीं होता है। इसके सिवाय अधीन होनेके कारण स्वेच्छाचारकी भी निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् अधीनतासे तू अपनी इच्छानुसार नहीं खा पी सकता है। इन सब कारणोंसे खाया हुआ भी कदन्न तेरे शरीरमें रोगकी बहुत वृद्धि नहीं कर सकता है। और इसीसे तुझे आनन्दानुभवन करानेवाला सुख हुआ है।"

दरिद्रीने कहा:—"यदि ऐसा है, तो मैं इस कदन्नको सर्वथा छोड़ देता हूं, जिससे कि मुझे उत्तम सुखकी प्राप्ति हो।"

सद्बुद्धि बोली:—"यह तो योग्य ही है। परन्तु इसे अच्छी तरहसे विचार करके छोड़ना, जिससे कि ममताके कारण तुझे पहलेके समान फिर आकुलता न हो जाय। यदि तूने त्याग कर दिया और फिर भी इसमें तेरा मोह बना रहा, तो इससे तो नहीं त्यागना ही अच्छा है। क्योंकि इस कदन्नमें मोह करना ही रोगोंका बढ़ानेवाला है। बल्कि ऐसा करनेसे अर्थात् त्याग करके फिर उसमें ममता रखनेसे— थोड़ा कदन्न खाते रहने और उसके साथ तीनों औषधियोंका सेवन करते रहनेसे वर्तमानमें जो रोगोंकी क्षीणता हुई है, वह भी अति-

शय दुर्लभ हो जायगी अर्थात् वह क्षीणता भी नहीं रहेगी। क्योंकि कदन्नका एक बार सर्वथा त्याग करके जो जीव फिर भी उसकी इच्छा करते हैं, वे महामोहके दोपसे रोगोंकी लघुता वा क्षीणताको भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये उत्तम पुरुषोंको चाहिये कि अच्छी तरहसे विचार करके यदि चित्तमें जंचै, तो इसका सर्वथा त्याग करैं।"

सद्बुद्धिके ये वचन सुनकर निष्पुण्यकका मन कुछ डोलने लगा। और अब मैं क्या करूं, इसका वह कुछ भी निश्चय नहीं कर सका।

एक दिन दरिद्रीने बहुतसे 'महाकल्याणक भोजन' को खूब खा करके पीछे लीलासे थोड़ासा अपना कदन्न भी खाया। तब उत्तम भोजनके करनेसे जो तृप्ति होती है, उसके कारण, तथा सद्बुद्धिके समीप रहनेके कारण, और उसमें जो उत्तम गुण थे उनके कारण, उसके चित्तमें उस समय इस प्रकारका विचार हुआ कि, "अहो! यह मेरा भोजन तो कुथित (सड़ा हुआ), अतिशय लज्जा उत्पन्न करनेवाला, मैला, घिनौना, विरस (चलितरस), निन्दनीय, और सब दोषोंका पात्र है। ऐसा बुरा है, तो भी इस परसे मेरी ममता दूर नहीं होती है। परन्तु मैं समझता हूं कि, इसके छोड़े विना मुझे आकुलतारहित सुख नहीं मिल सकता है। यह यदि छोड़ दिया और कहीं पहलेकी लोलुपतासे इसका स्मरण हो आया, तो सद्बुद्धिने उस स्मृतिको भी दुखकी करनेवाली बतलाई है। और नहीं छोड़ता हूं, तो साक्षात् दुःखसागरमें हमेशा पड़े रहना पड़ेगा। इससे अब मैं क्या करूं? हाय मैं पापी और सत्वरहित हूं। अथवा अब इन मोहसे उत्पन्न हुए संकल्प विकल्पोंके करनेसे क्या? अब तो इसे सर्वथा ही छोड़ दूं। जो होना होगा, सो होगा। अथवा इसमें होना

हीं क्या है? मुझे इस कुभोजनकी स्मृति भी नहीं होगी। क्योंकि—**को नाम राज्यमासाद्य स्मरेच्चाण्डालरूपताम्।** अर्थात् एक बड़े भारी राज्यको पाकर अपनी पूर्वकी चांडालरूप अवस्थाका कौन स्मरण करता है?" इस प्रकार निश्चय करके उसने सद्बुद्धिसे कहा, "हे भद्रे! यह मेरा भिक्षाका पात्र ले लो और इसमें जो सब कदन्न रक्खा है, उसे दूर करके इसका क्षालन कर दो—धोकर साफ कर दो।"

सद्बुद्धिने कहाः—"हे भाई! इस विषयमें तुझे धर्मबोधकरसे भी पूछ लेना चाहिये। क्योंकि **काले न विक्रियां याति सम्यगालोच्य यत्कृतम्।** अर्थात् जो काम भली भांति विचार करके किया जाता है, वह समय पड़नेपर विक्रियाको प्राप्त नहीं होता है—कुछका कुछ नहीं हो जाता है।"

तब निष्पुण्यकने सद्बुद्धिके साथ ही धर्मबोधकरके पास जा कर उसे अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। धर्मबोधकरने कहा, "हे भद्र! तुमने बहुत अच्छा विचार किया! बहुत अच्छा विचार किया! परन्तु पहिले इस विषयमें पक्का निश्चय कर लेना चाहिये, जिससे कि पीछे हँसी न होवे।"

दरिद्री बोला,—"हे नाथ! यह आप मुझसे बार बार क्यों कहते हैं? मेरा यह पक्का ही निश्चय है। क्योंकि उस कुभोजनपर अब मेरा जरा भी मन नहीं जाता है।" उसका यह उत्तर सुनकर चतुर धर्मबोधकरने सब लोगोंके साथ भली भांति विचार करके उसके कुभोजनको छुड़वा दिया और उस भिक्षापात्रको उत्तम जलसे शुद्ध करके फिर उसे महाकल्याणक भोजनसे अच्छी तरह ठांस ठांस कर भर दिया। इसके पश्चात् अतिशय प्रसन्न होनेके कारण धर्मबोधकर उस दिनसें महाकल्याणककी भी वृद्धि करने लगा। अर्थात् उसको अधिक २ देने लगा।

यह देख धर्मबोधकर हर्षित हुआ, तद्दया आनन्दसे उन्मत्त हो गई, सद्बुद्धिका आनन्द बढ़ गया और सारा राजमन्दिर प्रसन्न हो गया। उस समय लोगोंमें यह चर्चा होने लगी कि, यह प्राणी जिसे सुस्थित महाराजने देखा था, धर्मबोधकरको जो प्यारा था, तद्दया जिसकी पालना करती थीं, सद्बुद्धि जिसके पास रहती थी, और जो प्रतिदिन थोड़े थोड़े अपथ्यका त्याग करता था, तीनों औषधियोंका सेवन करनेसे सारे रोगोंसे बहुत करके मुक्त हो गया है। इस लिये अब यह वह निष्पुण्यक नहीं, किन्तु महात्मा सपुण्यक है। इसके पश्चात् उसी दिनसे उस पहलेके दरिद्रीका नाम सपुण्यक हो गया। यह सब पुण्यकी महिमा है। अन्यथा—

कुतः पुण्यविहीनानां सामग्री भवतीदृशी।
जन्मदारिद्र्यभाग् नैव चक्रवर्तित्वभाजनम् ॥ ४२१ ॥

जो पुरुष पुण्यहीन हैं, उन्हें ऐसी सामग्री कहांसे मिल सकती है? जो जन्मके दरिद्री हैं, वे चक्रवर्ती कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते।

इसके पश्चात् तद्दयाके सम्बन्धसे सद्बुद्धि उस महात्मा सपुण्यकके साथ राजमन्दिरमें रहने लगी। अब आगे उसका (सपुण्यकका) क्या हुआ, सो कहते हैं:—अपथ्यका (कदन्नका) अभाव हो जानेसे अब उसके शरीरमें प्रगट पीड़ा नहीं होती है और यदि कभी पहलेके दोषसे होती है, तो बहुत कम होती है और थोड़े ही समय रहकर नष्ट हो जाती है। जिसकी इच्छाएं नष्ट हो गई हैं, और जो लोकव्यापारमें शून्य बुद्धिवाला हो गया है, अर्थात् सांसारिक कामोंमें जिसकी बुद्धि नहीं रही है, वह महात्मा सपुण्यक अब प्रतिदिन अपने नेत्रोंमें अपने ही हाथोंसे विमलालोक अंजन आंजता

है, अश्रान्त चित्तसे तत्वप्रीतिकर पानी पीता है, और नित्य महाक-ल्याण नामका भोजन करता है। इससे उसके शरीरमें बल, धृति (धीरज), शांति, कान्ति, ओज, प्रसन्नता, और इन्द्रियोंके ज्ञानकी पटुता (विषयग्रहणशक्ति) क्षणक्षणमें निरन्तर बढ़ती जाती है। यद्यपि पहले रोगोंकी सन्तति बहुत अधिक थी, इसलिये अभीतक उसे अच्छी तर-हसे निरोगता प्राप्त नहीं हुई है, परन्तु उसके शरीरमें बड़ी भारी विशेषता दिखलाई देती है, अर्थात् पहलेकी अपेक्षा वह बहुत हृष्ट-पुष्ट तथा प्रफुल्लित जान पड़ता है। पहले जो प्रेत (पिशाच) सरीखा और अतिशय घिनौने रूपवाला था, वही अब मनुष्य सरीखा दिखने लगा है। पहले दरिद्रावस्थामें तुच्छता, नपुंसकता, लोलुपता, शोक, मोह, भ्रम आदि जो २ भाव अभ्यस्त हो रहे थे, वे भी ऊपर कही हुई तीनों औषधियोंके सेवनसे नष्ट सरीखे हो जानेके कारण निरन्तर नहीं रहते हैं और इस कारण वे कुभाव अब उसे जरा भी दुखी नहीं करते हैं। वह प्रफुल्लितचित्त रहता है।

एकदिन उस अतिशय प्रसन्न आत्मावाले सपुण्यकने सद्बुद्धिसे पूछा:—"हे भद्रे! मुझे ये तीन औषधियां किस कर्मके उदयसे प्राप्त हुई हैं?" उसने कहा:—"हे भाई! लोगोंमें ऐसी कहावत प्रचलित है कि जो पदार्थ पूर्वजन्ममें किसीको दिया है, वही इस जन्ममें प्राप्त होता है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि, तुमने भी ये पदार्थ पहले किसीको दिये होंगे।" यह सुनकर उसने विचार किया कि, "यदि दिया हुआ पदार्थ फिर मिलता है, तो मैं अब सब कल्याणोंकी करने-वाली और कभी क्षय नहीं होनेवाली ये औषधियां अच्छे पात्रोंको बहुतायतसे देने लगूं; जिससे जन्मांतरमें ये मुझे फिरसे प्राप्त होवें।" उसको यह गर्व हुआ कि, मुझपर राजराजेश्वर सुस्थितकी दृष्टि

पड़ गई है; धर्मबोधकरका मैं प्यारा हूं, तदया मेरा सत्कार करती है, सब लोग मेरी प्रशंसा करते हैं, और सद्बुद्धिका तो मैं बहुत ही प्यारा हूं, अतएव सपुण्यक हूं, और संसारमें सबसे श्रेष्ठ हूं। इसके पश्चात् वह ऐसा विचार करके कि, "यदि कोई मनुष्य आकर मुझसे प्रार्थना करेगा, तो उसे मैं ये औषधियां दूंगा।" दान करनेकी इच्छा करता हुआ रहने लगा। ठीक ही है,—

अत्यन्तं निर्गुणोऽप्यत्र महद्भिः कृतगौरवम्।
नूनं संजायते गर्वी यथाऽयं द्रमकाधमः ॥ ४३८ ॥

अर्थात् किसी अतिशय निर्गुणी पुरुषका भी यदि बड़े पुरुष गौरव करते हैं, तो वह घमंडी हो जाता है; जैसे कि, यह अधम दरिद्री। अभिप्राय यह है कि दरिद्रीके दान करनेके विचारकी राजराजेश्वर आदिने ज्यों ही प्रशंसा की, त्यों ही उसे गर्व हो गया कि, मैं सपुण्यक हूं और कोई मुझसे प्रार्थना करेगा, तो मैं उसे ये औषधियां दूंगा।

उस राजमन्दिरमें जितने लोग रहते थे; वे सब उक्त तीनों औषधियोंका सेवन करनेवाले थे और उन्हींके प्रभावसे सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित होकर परमेश्वर हुए थे। और जिन्होंने उस राजमन्दिरमें तत्काल ही प्रवेश किया था, तथा जो इस निष्पुण्यकके समान ही निर्धन थे, वे अन्य लोगोंके पाससे इन औषधियोंको बहुत बहुत पाते थे। इसलिये सपुण्यकके पास कोई भी मनुष्य औषधियोंके लिये नहीं आता था। सपुण्यक चारों ओर नजर फेंकता हुआ याचना करनेवालोंकी प्रतीक्षा करता था—राह देखता था।

जब इस प्रकारसे बहुत समय तक मार्ग देखते हुए रहनेपर भी कोई याचना करनेवाला नहीं मिला, तब उसने इसके लिये सद्बुद्धिसे फिर पूछा। उसने कहाः—हे भद्र! तुझे बाहर निकलकर

पुकार पुकारके औषधियां देना चाहिये। ऐसा करनेसे यदि कोई लेने-वाला मिल जाय, तो बहुत अच्छा हो।" तब सपुण्यकने इस प्रकार जोरसे आवाज लगाई कि, "हे भाइयो! इन औषधियोंको लो! लो!" और वह उस घरमें चारों ओर घूमने लगा। उसका यह पुकारना सुन-कर वहांपर जो उसके समान अतिशय तुच्छ जीव थे, वे तो उससे उन औषधियोंको लेने लगे। परन्तु दूसरे लोगोंके हृदयमें यह विचार हुआ कि, "अहो! यह रंक जो पहले दरिद्री था अब पागलसा हो गया है, इसलिये राजस्तुतिके वशसे अर्थात् राजाके समान मेरी भी स्तुति होवे इस इच्छासे, अपनी औषधियां हमको देना चाहता है।" इसलिये उनमेंसे कई लोग उसे दान करते देखकर खूब हँसने लगे, कई लोग उसका ठट्ठा करने लगे और कई लोग पराङ्मुख होकर उसका निरादर करने लगे।

सपुण्यकने दान करनेके उत्साहको भंग करनेवाली लोगोंकी ऐसी क्रियाएं देखकर सद्बुद्धिसे कहा, "हे भद्रे! ये औषधियां मेरे पाससे केवल दरिद्री ही लेते हैं, महापुरुष नहीं लेते हैं, और मेरी इच्छा है कि, इन्हें सब ही लोग लेवें। हे निर्मल नेत्रोंवाली! तू पर्यालोचना करनेमें अर्थात् भलीभांति विचार करनेमें बहुत चतुर है, इसलिये बतला कि, महात्मा पुरुष मेरे पाससे औषधियां किस कारणसे नहीं लेते हैं?

यह सुनकर—"इसने तो मुझे बड़े भारी काममें नियुक्त कर दी" इस प्रकार विचार करते हुए उस सद्बुद्धिने महाध्यानमें प्रवेश किया फिर वह इस कार्यका गहरा अभिप्राय निश्चय करके बोली,— "सब लोग इन औषधियोंको ग्रहण करने लगें, इसका अब एक ही सर्वोत्तम उपाय है। वह यह कि, लोगोंसे खचाखच भरे हुए इस

राजाके आंगनमें इन तीनों भेषजोंको एक बड़ी भारी कठौतीमें (लक-डीके पात्रमें) रखकर तुझे विश्वास करके एक ओर बैठ जाना चाहिये। ऐसा करनेसे जो लोग तेरी दरिद्रताका स्मरण करके तेरे पाससे औषधियां नहीं लेते हैं परन्तु यथार्थमें उन्हें चाहते हैं, वे शून्य स्थान देखकर स्वयंले ले वेंगे। यदि कोई एक ही गुणी पुरुष ये औषधियां ग्रहण कर लेगा, तो मैं समझती हूं कि, उससे तू तर जायगा। क्योंकि ऐसा कहा है कि गुणियोंमें कोई पात्र ज्ञानमयी होते हैं और कोई तपोमयी होते हैं। सो इनमेंसे जो पात्र (ज्ञानमयी, दर्शनमयी) आवेगा, वहीं तुझे तार देगा।"

सद्बुद्धिके वचनोंकी चतुराईसे सपुण्यकने बहुत ही आनन्दित होकर उसीके वचनके अनुसार कार्य किया। इस विषयमें अब ग्रन्थ-कार कहते हैं कि:—

"ऐसे दरिद्रीकी बतलाई हुई भी औषधियां जो मनुष्य ग्रहण करेंगे, वे नीरोगी हो जावेंगे। क्योंकि नीरोग होनेमें ये तीनों औष-धियां ही कारण हैं।"

ग्रहण करनेमें जो स्वभावसे ही दयालु हैं, ऐसे सब ही लोगोंको यहां जितना विषय कहा गया है, उसको कृपा करके धारण करना चाहिये।

इस प्रकार संक्षेप रीतिसे यह दृष्टान्त कहा गया। अब आगे जो उपनय (दार्ष्टान्त) कहा जावेगा, उसे सुनो:—

संक्षिप्त दार्ष्टान्त।

कथामें जो अदृष्टमूलपर्यन्त नामका नगर कहा गया है, उसे जिसका छोर नहीं दिखलाई देता है, ऐसा 'विस्तृत संसार' सम-झना चाहिये। महामोहसे हते हुए, अनन्त दुखोंसे पीड़ित होते

हुए और पुण्यहीन ऐसे मेरे पूर्वकी स्थितिके 'जीवको' निष्पु-ण्यक दरिद्री जानना चाहिये। भिक्षाका आधारभूत जो उसका मिट्टीका ठीकरा था, उसे गुणदोषोंकी आधारभूत 'आयु' मानना चाहिये। उपद्रवी लड़कोंको 'कुतीर्थक' (अन्यधर्मी), वेदनासे चित्तको क्लेशित करनेवाले भिखारीके रोगोंको 'रागादि,' और अजीर्णको 'कर्मोंका संचय' समझना चाहिये। 'भोग और स्त्रीपुत्र आदिक' जो संसारके कारण हैं, जीवको आसक्त करते हैं, इसलिये उन्हें दरिद्रीका कदन्न समझना चाहिये। सुस्थित नामके जो महाराज कहे गये हैं, उन्हें परमात्मा सर्वज्ञ 'जिनदेव' जानना चाहिये। अतिशय आनन्दके उत्पन्न करनेवाले और अनन्तविभूतिसे भरे हुए राजमन्दिरको 'जिनशासन' समझना चाहिये। स्वकर्मविवर नामका जो द्वारपाल कहा गया है, उसे अपने यथा नाम तथा गुणको धारण करनेवाला 'अपने कर्मोंका विच्छेद' समझना चाहिये। और वहां प्रवेश करानेवाले जो और द्वारपाल कहे हैं, तत्त्वकी चिन्ता करनेवालोंको चाहिये कि उन्हें मोह, अज्ञान, लोभादि समझें।

राजालोग 'आचार्य'—मंत्री 'उपाध्याय'—योद्धालोग श्रेष्ठ 'गीतार्थमुनि,'—गणोंकी चिन्ता करनेवाले नियुक्तक (कामदार) 'गणी'—तलवर्गी (कोटपाल) सर्व 'सामान्य भिक्षुक,'—शान्तरूप वृद्धास्त्रियां 'आर्यिकाएं'—सुभटसमूह उनकी रक्षामें चित्त लगानेवाले 'श्रावक'—और विलासिनियोंके समूह भक्तिमती 'श्राविकाएं' समझनी चाहिये।

शब्दादि विषयोंका आनन्द जो इस प्रकरणमें वर्णन किया गया है, सो सद्धर्मके प्रभावसे जो शब्दादि विषय प्राप्त होते हैं, वे भी सुन्दर होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। धर्मबोधकरको मेरे प्रबोधित

करनेवाले 'आचार्य महाराज' और उनकी मुझपर जो 'महाकृपा' हुई, उसे तद्दया समझनी चाहिये। विमलालोक अंजनको 'सम्यग् ज्ञान,' तत्त्वप्रीतिकर जलको 'सम्यग्दर्शन' महाकल्याणक परमान्नको सम्यक्चारित्र' सद्बुद्धिको उत्तम मार्गमें प्रवृत्त करनेवाली 'सुन्दर बुद्धि' और तीनों औषधियोंसे भरी हुई कठौतीको यह 'कथा' समझनी चाहिये।

इस प्रकारसे संक्षेपसे यह सामान्य योजना की गई, अब विशेष योजना गद्यमें करते हैं।

विस्तृत दार्ष्टान्त।

(उपनयन)

तत्त्वज्ञानी पुरुषोंका यह मार्ग है कि,—वे निरन्तर अपना और दूसरोंका कल्याण करनेमें दत्तचित्त रहते हैं, इसलिये उनके मनमें कोई निष्प्रयोजनीय (वेमतलवके) विकल्प नहीं उठते हैं। यदि कभी अज्ञात अवस्थामें उठते हैं, तो भी वे कभी विना कारणके नहीं बोलते हैं। और यदि कभी तत्त्वज्ञानको नहीं जाननेवाले मूर्ख पुरुषोंके साथ रहनेसे विनाकारणका (निर्निमित्तक) बोल जावें, तो भी वे विना कारणकी कोई चेष्टा नहीं करते हैं अर्थात् उनके उस विनाकारण बोलनेका भी कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। यदि ऐसा न हो, अर्थात् वे विनाकारणकी चेष्टा करें, तो फिर अतत्त्वज्ञ (अज्ञानी) पुरुषोंमें और उनमें कुछ विशेषता ही नहीं रहे और ऐसा होनेसे उनकी तत्त्वज्ञता ही नष्ट हो जाय। इस लिये तत्त्वज्ञानियोंमें अपनी गणना करानेकी इच्छा रखनेवाले सब ही जीवोंको अपने विकल्पोंकी, बोलनेकी और आचरण करनेकी सार्थकता यत्नपूर्वक चिन्तवन करना चाहिये, अर्थात् ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे अपने कोई विचार, वचन तथा आचरण निष्प्रयोजन वा निरर्थक न होवें, साथ ही उस सार्थकताके जाननेवालोंके समक्षमें प्रगट करना चाहिये जिससे कि यदि कोई अपने निरर्थक विचारों वचनों और

आचारणोंको सार्थक मान रहा हो, तो उसे कृपा करके रोक देवें। तदनुसार मैं भी अपनी प्रवृत्तिकी सार्थकता निवेदन करता हूं:–

हे भव्यो! इस उपमितिभवप्रपंचाकथाके प्रारंभ करनेवालेने (मैंने) पहले दृष्टान्तके द्वारा कथा कही है और उसकी तुमने धारण की है अर्थात् पढ़ी है वा सुनी है। इसलिये अब मेरे अनुरोधसे अन्य सब विक्षेपोंको (बखेड़ोंको?) छोड़कर उसका दार्ष्टान्तिक अभिप्राय जिसे मैं आगे कहता हूं, सुनो:—

पहले दृष्टान्तमें जो **अदृष्टमूलपर्यन्त** नामका नगर अनेक प्राणियोंसे भरा हुआ और सदा स्थिर रहनेवाला कहा है, सो यह अनादि अनन्त अविच्छिन्नरूप और अनन्त जन्तुओंसे भरा हुआ **संसार** है।

इस संसार नगरमें जो नगरपनेकी कल्पना की गई है, वह ठीक है। उस नगरमें जो धवल गृहोंकी पंक्ति बतलाई है, सो यहां देवलोकादि समझना चाहिये। बाजारोंकी गलियां एक जन्मसे दूसरा जन्म लेनेरूप उत्तरोत्तर जन्मोंकी श्रेणी हैं। उनमें जो नाना प्रकारकी बिक्रीकी चीजें बतलाई हैं, वे नाना प्रकारके सुख दुख हैं। और उन चीजोंकी कीमतके समान यहां बहुत प्रकारके पुण्य और पाप हैं। अर्थात् जिस प्रकारसे बाजारकी चीजोंको लोग जुदे २ दाम देकर पाते हैं, उसी प्रकारसे जीव मनुष्यभवादिरूप बाजारमेंसे सुख दुखरूप वस्तुएं अपने २ पुण्यपापरूप जुदी २ कीमत जितनी जिसके पास होती है, देकर पाते हैं। नगरमें जो विचित्र २ प्रकारके चित्रोंसे शोभित देवमंदिर कहे हैं, उन्हें यहांके सुगत (बुद्धदेव) कणभक्ष (वैशेषिक दर्शनके स्थापक, कणाद), अक्षपाद (न्यायदर्शनके प्रणेता, गौतम), और कपिल (सांख्यदर्शनके कर्त्ता), आदिके रचे हुए कुमत समझना चाहिये। वहांपर जो आनन्दसे

प्रबल कलकल करनेवाले, मन्दिरोंपर मोहित होनेवाले, दुर्दान्त और बाचाल बालकोंके समूह कहे हैं, उन्हें यहां बौद्ध आदि मतोंपर विना पूर्वापर (आगे पीछे) विचार किये मोहित होनेवाले भोले लोग समझना चाहिये।

पूर्वोक्त नगरमें जो ऊंचा परकोटा कहा है, उसे संसाररूप नगरमें क्रोधादि कषाय समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार नगरके कोटसे दूसरे शत्रुओंका चित्त भयभीत रहता है, उसी प्रकारसे इन कषायोंसे सारे विवेकी महापुरुषोंके चित्त उद्वेगरूप रहते हैं। चारों ओरसे घेरे हुए जो बड़ी भारी खाई कही है, वह यहां रागद्वेषरूपी तृष्णा समझनी चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार खाई महामोहसे[1] अर्थात् युद्ध करनेकी प्रबल इच्छासे लांघी जा सकती है, और नगरको चारों ओरसे घेरे रहती है, उसी प्रकारसे तृष्णा भी महामोहलंघ्य है अर्थात् महामोह ही उसे जीत सकता है—महामोह ही उससे अधिक बलवान है, दूसरा कोई नहीं है और संसारको सब ओरसे घेरे रहती है। नगरमें जो बड़े २ विस्तीर्ण सरोवर बतलाये हैं, उन्हें संसारमें इन्द्रियोंके शब्दादि विषय समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार महासरोवर जलसे कठिनतापूर्वक भरे जाते हैं और बहुत गहरे रहते हैं, उसी प्रकारसे इन्द्रियोंके विषय भी विषयरूपी जलसे कठिनाईसे भरे जाते हैं और बहुत ही गहरे होते हैं, अर्थात् उनकी थाह नहीं मिलती है कि कितने हैं। नगरमें जो कोटके समीप गहरे अंधकुए हैं, उन्हें संसार नगरमें प्यारोंका वियोग, अनिष्टोंका संयोग, कुटुम्बियोंका मरण, धनका छीना जाना आदि नानाप्रकारके भाव समझना चाहिये। क्योंकि अंधकूप जैसे पानीकी प्रबल तरंगोंसे चंचल रहते हैं, और

१ "नियुद्धभूरक्षवाटो मोहो मूर्च्छा च कश्मलम्।" इति हेमः।

पक्षियोंके आधारभूत होते हैं, उसी प्रकारसे इष्टवियोगादि भाव भी रुदनादिजनित आंसुओंकी जल तरंगोंसे आकुलित रहते हैं और मिथ्याती जीवोंके आधारभूत होते हैं अर्थात् विशेषतासे मिथ्यात्व गुणस्थानवाले जीवोंके ही इष्टवियोगादि भाव होते हैं। नगरमें जो बड़े २ बाग[1] और वन वर्णन किये गये हैं, वे संसार नगरमें जीवधारियोंके शरीर हैं, क्योंकि जैसे बाग परागके लोभसे भ्रमण करते हुए भ्रमरोंके उपद्रवसे त्रासके कारण होते हैं और वन नानाप्रकारके वृक्षों फलों फूलोंसे परिपूर्ण होनेके कारण अदृष्टमूल होते हैं अर्थात् उनके अन्तका पता नहीं लगता है, उसी प्रकारसे इन्द्रिय और मनरूपी भौंरोंका स्थान होनेसे तथा निजकर्म रूपी नानाप्रकारके वृक्षों फूलों और फलोंसे भरपूर होनेसे जीवोंके शरीर भी दुःखके कारण और अदृष्टमूल होते हैं, अर्थात् पता नहीं है कि, जीवोंके साथमें कबसे लगे हुए हैं। इस प्रकारसे जैसा अदृष्टमूलपर्यन्त नगर अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ बतलाया है, उसी प्रकारसे यह संसाररूपी नगर भी अनेक चमत्कारोंका स्थान है।

आगे उस नगरमें जो निष्पुण्यक नामका दरिद्री कहा गया है, सो इस संसारनगरमें सर्वज्ञशासनकी (जैनधर्मकी) प्राप्ति होनेसे पहलेकी अवस्थामें मारा मारा फिरता हुआ मेरा जीव है। पुण्यहीनताके कारण इसका उस समयके लिये निष्पुण्यक नाम यथार्थ ही है। जैसे

---

१ मूल पुस्तकमें 'वानरकाननैः' ऐसा अशुद्ध पाठ छपा है, इस कारण दृष्टान्तमें उसका (पृष्ठ १६ पंक्ति ६ में) देवोंके विहार करने योग्य बगीचा ऐसा अर्थ किया गया है। परन्तु यहां दार्ष्टान्तमें 'विशालारामकाननायन्ते जन्तुदेहाः' यह पाठ देखनेसे मालूम हुआ कि, पहले 'वारानकाननैः' होना चाहिये, जिसका अर्थ बाग और वन होता है। इसलिये १६ वें पृष्ठमें भी ऐसा ही सुधार लेना चाहिये।

उस दरिद्रीको बडे पेटवाला कहा है, उसी प्रकारसे इस जीवको भी विषयरूपी बुरे भोजनसे अपने पेटको पूरा नहीं भर सकनेके कारण बड़े पेटवाला समझना चाहिये। जैसे उस दरिद्रीको बन्धुओंसे रहित कहा है, उसी प्रकारसे मेरा यह जीव भी जिसके आदिका कुछ पता नहीं है, ऐसे भवभ्रमणमें अकेला जन्मता है, अकेला मरता है और अकेला ही अपने कर्मोंके परिपाकके अनुसार पाये हुए सुख दुःखोंको भोगता है, इसलिये वास्तवमें इसका कोई बन्धु नहीं है। जिस प्रकार वह निष्पुण्यक दरिद्री दुर्बुद्धि है, उसी प्रकारसे यह जीव भी अतिशय उलटी बुद्धिका है। क्योंकि यह अनंत दुःखोंके कारणरूप विषयोंको पाकर सन्तुष्ट होता है, वास्तवमें जो शत्रुओंके समान हैं, उन कषायोंको हितू बन्धुओंके समान सेवन करता है, वास्तवमें अंधेपनके समान जो मिथ्यात्व है, उसको सुदृष्टि (पटुदृष्टिरूप) समझके ग्रहण करता है, नरकोंमें पड़नेके कारणरूप जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच अव्रत हैं, उन्हें आनन्ददायक समझता है, जो अनेक अनर्थोंके करनेवाले हैं, उन पन्द्रह[1] प्रमादोंको अतिशय स्नेही मित्रोंके समान देखता है, मन वचन कायके अशुभ योगोंको जो कि धर्मरूप धनको हरण करनेके कारण चोरोंके समान हैं, बहुतसा धन कमानेवाले पुत्रोंके समान मानता है और पुत्र, स्त्री, धन, सुवर्ण आदिको जो कि गाढ़े बन्धनोंके समान हैं, अतिशय आल्हादके करनेवाले सोचता है, इन सब चेष्टाओंसे यह दुर्बुद्धि ही है।

जिस प्रकार उस भिखारीको धनरहित वा दरिद्री बतलाया है, उसी प्रकारसे यह जीव सद्धर्मरूपी एक कौड़ी भी पास न रहनेके का-

---

१ स्त्रीकथा, राजकथा, भोजनकथा, राष्ट्रकथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पांचों इन्द्रियां, निद्रा, और स्नेह ये १५ प्रमाद हैं।

रण दरिद्री है। जैसे वह रंक पुरुपार्थरहित है, उसी प्रकारसे इस जीवको भी अपने कर्मोंके कारणभूत आस्रवके रोकनेका पराक्रम नहीं होनेसे पुरुषार्थहीन समझना चाहिये। जैसे भिखारीको भूखके कारण दुबला बतलाया है, उसी प्रकारसे इस जीवको भी निरन्तर विषयरूपी भूख लगी रहनेके कारण कृशशरीर समझना चाहिये। जैसे भिक्षुकको अनाथ कहा है, उसी प्रकारसे इस जीवको भी सर्वज्ञदेवरूपी नाथके नहीं मिलनेसे अनाथ जानना चाहिये। जैसे धरतीमें सोनेसे निष्पुण्यककी पीठ और दोनों करवट छिल गये हैं ऐसा बतलाया है, उसी प्रकारसे इस जीवके सारे अंग-उपांग निरन्तर पापरूपी अतिशय ककरीली भूमिमें लेटनेसे खूब ही छिल गये हैं, ऐसा समझना चाहिये। जैसे भिखारीका स्वरूप कहा है कि, उसका सारा शरीर धूलिसे मैला हो रहा है, उसी प्रकारसे इस जीवका सारा शरीर भी बँधनेवाले पापपरमाणुओंकी धूलिसे धूसरा समझना चाहिये। जैसे दरिद्रीको चीथड़ोंसे ढँका हुआ कहा है, उसी प्रकारसे यह जीव भी मोहकी २८ भेदरूपी छोटी २ पताकाओंसे (झंडियोंसे) सब ओरसे लिपटा है, इसलिये अतिशय बीभत्सरूप अर्थात् घिनोना दीखता है और जैसे उस भिखारीको निन्दनीय तथा दीन कहा है, उसी प्रकारसे यह जीव भी विवेकके स्थानभूत (ज्ञानी) सज्जनोंके द्वारा निन्दनीय और भय शोकादि पीड़ा देनेवाले कर्मोंसे परिपूर्ण होनेके कारण अतिशय दीन है।

जैसे उस अदृष्टमूलपर्यंत नगरमें वह दरिद्री भिक्षाके लिये घर घर फिरा करता है, ऐसा कहा है, उसी प्रकारसे यह जीव भी संसार नगरमें एक जन्मसे दूसरा जन्म धारण करनेरूप ऊंचे नीचे घरोंमें, विषयरूपी भिक्षाभोजनकी आशाकी फाँसीमें उलझा हुआ,

निरन्तर भ्रमण किया करता है। और उसके पास जो भीख रख-नेके लिये फूटे घड़ेका ठीकरा बतलाया है, सो इस जीवकी आयु समझनी चाहिये। क्योंकि यह आयुरूपी ठीकरा ही इस जीवके विषयरूपी बुरे अन्न आदिका तथा सम्यक्चारित्ररूप महाकल्याणक आदि दिव्य पदार्थोंका आश्रय है। अभिप्राय यह है कि, जब आयु होती है, तब ही विषय सेवनादि वा चारित्र पालनादि कार्य होते हैं। इन सबका आधार आयु है। इस आयुरूपी ठीकरेको लेकर ही यह जीव संसार नगरमें बारबार भ्रमण करता है।

और जो उस भिखारीको लकड़ी मुक्कों तथा बड़े २ ढेलोंकी चोटोंसे क्षण क्षणमें ताड़ना करनेवाले और शरीरको जरजरा करनेवाले दुर्दमनीय लड़के बतलाये हैं, सो इस जीवके नाना प्रकारके बुरे विकल्प, उनके उत्पन्न करनेवाले कुतर्कग्रंथ, अथवा उनके बनाने-वाले कुतीर्थिक (कुगुरु) समझना चाहिये। वे जब जब इस बेचारे जीवको देखते हैं, तब तब कुयुक्ति (हेत्वाभास) रूप सैकड़ों मुद्गरोंकी मारसे इसके तत्त्वाभिमुखरूप शरीरको जर्जरा कर डालते हैं। अभिप्राय यह है कि, कुगुरुओं वा कुग्रंथोंकी खोटी युक्तियोंसे वास्तविक तत्त्वोंके सम्मुख होनेवाली श्रद्धा नष्ट हो जाती है। फिर जब उनके हेत्वा-भासोंसे तत्त्वाभिमुखरूप शरीर जर्जर हो जाता है, तब यह जीव कार्यका विचार नहीं कर सकता है, भक्ष्य क्या है और अभक्ष्य क्या है, पीने योग्य (पेय) क्या है और नहीं पीने योग्य (अपेय) क्या है, इसके स्वरूपको नहीं समझता है, छोड़ने योग्य

---

१ मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमोहनीय ये तीन दर्शनमोहनीयके और १६ कषाय और हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये ९ नो कषाय, इस तरह २५ चारित्र मोहनीयके भेद हैं।

क्या है और ग्रहण करने योग्य क्या है, इसका भेद नहीं जानता है और अपने तथा पराये गुणदोषोंके कारण क्या हैं, यह नहीं समझ सकता है। फिर कुतर्कोंसे श्रान्तचित्त होकर (थककर) यह जीव विचारता है कि,—परलोक नहीं है, बुरे भले कर्मोंका फल नहीं मिलता है, आत्माका अस्तित्व ही संभव नहीं है, सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती, और इसलिये उसका उपदेश किया हुआ मोक्ष-मार्ग भी घटित नहीं हो सकता है। जब इसके हृदयमें ऐसे अतत्त्व बैठ जाते हैं, तब यह जीवोंको मारता है, झूठ बोलता है, पराया धन चुराता है, परस्त्रियोंके साथ कामसेवन करता है, परिग्रहका संग्रह करता है, इच्छाका परिमाण नहीं करता है कि, मैं अमुक २ पदार्थोंका ही सेवन ग्रहण करूंगा, मांस खाता है, शराब पीता है, अच्छे उपदेशोंको नहीं मानता है, खोटे मार्गका प्रकाश करता है, जो वन्दना करने योग्य हैं, उनकी निन्दा करता है, जो निन्दा करने योग्य है उनकी वंदना करता है, अपने कामोंको गुण-रूप (अच्छे) समझता है, पराये कामोंको दोषरूप (बुरे) समझता है और दूसरोंकी निंदा करता है, इस तरह सारे पापोंका आचरण करता है पश्चात् ऐसे दुराचारोंसे यह जीव अधिक स्थितिवाले बहुतसे कर्मोंको बांधता है और उनके कारण नरकोंमें जाकर पड़ता है। वहां अपने पापोंसे प्रेरित हुए महापापी असुरोंके द्वारा कुंभीपाकमें अर्थात् तैलकी कढ़ाहीमें पकाया जाता हैं, करोंतसे चीरा जाता है, वज्र सरीखे कांटोंवाले सेमरके वृक्षोंपर चढ़ाया जाता है, संडासीसे (संसीसे) मुंह फाड़कर उबलता हुआ तप्त सीसा पिलाया जाता है, अपने शरीरका मांस खिलाया जाता है, अत्यन्त गर्म भाड़ोंमें भूंजा जाता है, पीब, वसा (चर्बी,) रक्त, मल, मूत्र, और आंतोंसे कलुषित

(भैसी) वैतरणी नदीमें तिराया जाता है, और तरवार सरीखे पैने पत्तेवाले वनोंमें खंड खंड किया जाता है।

इन नरकोंमें ऐसी भूख होती है कि, संसारमें जितनी पुद्गलराशि है, वह सब भक्षण कर ली जावे, तो भी शान्त नहीं होती है। प्यास ऐसी लगती है कि, सारे समुद्रोंका जल पान करनेसे भी नहीं बुझती है। वहां जीव शीतकी कठिन वेदनासे पराजित होता है, अर्थात् बहुत दुखी होता है, अतिशय गर्मीसे क्लेशित होता है और दूसरे नारकी इसे नाना प्रकारके दुःख देते हैं। उस समय यह अतिशय दुःखी जीव व्याकुल होकर, "हे माता! रक्षा करो! हे नाथ! मुझे बचाओ!" इस प्रकार व्याकुल होकर रोता हुआ पुकारता है। परन्तु वहांपर इसके शरीरकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं होता है— कोई इसे बचा नहीं सकता है।

यदि किसी तरह यह नरकोंसे भी निकलता है, तो तिर्यंच गतिमें जन्म लेता है, और वहां भी बहुत दुखी होता है। वजन लादा जाता है, लकड़ी आदिसे पीटा जाता है, कान पूंछ छेदे जाते हैं, कीड़ोंके समूह काटते हैं, भूख सहता है, प्यासों मरता है, और नाना प्रकारकी पीड़ाओंसे दुखी होता है।

यदि कदाचित् तिर्यंच गतिसे निकल कर यह जीव मनुष्यभव पाता है, तो उसमें भी अनेक दुःखोंसे पीड़ित होता है। मनुष्य गतिमें रोगोंके समूह क्लेशित करते हैं, बुढ़ापेके विकार जरजरा करते हैं, दुर्जन बहुत ही खेदित करते हैं, प्यारोंके वियोग विह्वल करते हैं, अनिष्टोंके संयोग रुलाते हैं, धनहरण अर्थात् चोरियां कंगाल कर देती हैं, अपने कुटुम्बियोंके मरण व्याकुल करते हैं और नाना प्रकारके भ्रम बावला बना देते हैं।

और कदाचित् यह जीव देवोंकी पर्याय पाता है, तो उसमें भी नाना प्रकारकी मानसिक वेदनाओंसे ग्रसित रहता है। इन्द्रादि अधिकारियोंकी आज्ञाका परवश होकर पालन करता है, दूसरोंका वैभव देखकर खेद करता है, पूर्वभवके किये हुए प्रमादोंके स्मरण होनेसे दुखी होता है अर्थात् यह सोच कर चिन्ता करता है, कि, "हाय मैंने पूर्वजन्ममें तपस्या आदिमें इतनी कमी कर दी, जिससे कि इन्द्रादिकोंकी ऊंची विभूति नहीं मिली, और इसलिये इनका आज्ञाकारी होना पड़ा," जो अपने अधीन नहीं हैं, ऐसी दूसरोंकी सुंदर-देवांगनाओंकी डाहसे मन ही मन जलता है और उनका संयोग कैसे हो, इस प्रकारकी चिन्ता उसे कांटे सरीखी चुभती है, बड़ी ऋद्धिवाले देव निन्दा करते हैं, अपना च्यवनसमय निकट देखकर अर्थात् अपनी मौत नजदीक जानकर विलाप करता है, और मृत्यु-को बहुत ही निकट आई देखकर आक्रन्दन करता है अर्थात् खूब रोता है। अंतमें आयु पूर्ण करके सब प्रकारकी अपवित्रताके स्थान-भूत गर्भरूपी कर्दममें (कीचडमें) पड़ता है।

ऐसी स्थितिमें जो भिखारीका वर्णन करते समय कहा गया है कि:—" सारे शरीरमें बड़ी २ चोटोंके लगनेसे उसका आत्मा अतिशय दुखी हो रहा है और ' हा माता मेरी रक्षा करो ' इस प्रकार दीनतासे चिल्लाता हुआ वह व्याकुल हो रहा है।" सो भी इस जीवके विषयमें बराबर समझना चाहिये। (क्योंकि नरकादि दुर्गतियोंमें यह भी नाना प्रकारके दुःखोंकी चोटें सहता है, रोता चिल्लाता है, और दुःखोंसे बचनेका कुछ उपाय न पाकर व्याकुल रहता है।) इन सारे अनर्थोंके कारण इस जीवके नाना प्रकारके बुरे विकल्प, उनके उत्पन्न करनेवाले कुदर्शन ग्रन्थ (अन्यधर्मीय ग्रन्थ), और उनके बनानेवाले कुगुरु हैं।

उस भिखारीके शरीरमें उन्माद आदि रोग बतलाये गये हैं, सो इस जीवके सम्बन्धमें महामोह आदि समझना चाहिये। जैसे निष्पुण्यकको उन्माद रोग था और उससे वह सब प्रकारके अकार्योंमें प्रवृत्ति करता था, उसी प्रकारसे इस जीवके मोह और मिथ्यात्व-रूपी उन्माद है और इससे यह भी अकार्य करनेमें ही लगा रहता है। ज्वरके समान इस जीवके राग समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार ज्वरसे सारे अंगमें बड़ी भारी तपन होती है, उसी प्रकारसे रागसे भी सर्वांग तप्त होते हैं। शूलके समान द्वेष समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार शूलसे हृदयमें गाढ़ी वेदना होती है, उसी प्रकारसे द्वेषसे भी होती है। खुजलीके समान काम समझना चाहिये। क्योंकि उसमें भी विषयाभिलाषितारूपी तीव्र खुजली चलती है। गलित कुष्ठ (वहनेवाले कोढ़के) समान भय शोक और अरतिसे उत्पन्न होनेवाली दीनता समझनी चाहिये। क्यों कि जिस तरह कोढ़से लोगोंको ग्लानि होती है, तथा दूसरोंके चित्तमें उद्वेग होता है, उसी प्रकार दीनतासे भी दूसरोंको घृणा और उद्वेग होता है। नेत्र रोगके समान अज्ञानको समझना चाहिये। क्यों कि जिस प्रकार आंखोंकी बीमारीसे विवेकदृष्टि अर्थात् देखनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अज्ञानसे विवेकदृष्टिका अर्थात् ज्ञानका घात हो जाता है। जलोदर रोगके समान प्रमादको समझना चाहिये। क्यों कि जिस तरह जलोदरमें अच्छे कामोंके करनेका उत्साह नष्ट हो जाता है, उसी तरह प्रमादके वशमें पड़नेसे इस जीवका शुभ कार्योंके करनेमें उत्साह नहीं रहता है।

इस प्रकारसे यह जीव मिथ्यात्व, राग, द्वेष, काम, दीनता, अज्ञान, और प्रमाद आदि भावरोगोंसे विह्वल होकर ज़रा भी सचेत नहीं

होता है । और ऊपर कहे हुए भक्ष्य, अभक्ष्य, पेय अपेय आदिका जो निश्चय नहीं होने देता है ऐसे महातमरूप मोहको और जो परलोक नहीं है, शुभ अशुभ कर्मोंका फल नहीं मिलता है, इत्यादि मिथ्यात्वके भेद कहे हैं उन्हें, अभीतक नहीं जानता है। अभिप्राय यह कि, मोह और मिथ्यात्व दोनोंका ही स्वरूप नहीं जानता है। इन दोनोंकी अर्थात् मोह और मिथ्यात्वकी उत्पत्तिमें दो कारण हैं, एक बाह्य और दूसरा अन्तरंग । कुतर्क ग्रन्थादि तो बाह्य सहकारी कारण हैं और राग द्वेष मोह आदि अन्तरंग उपादान कारण हैं। इसलिये पहले कहे हुए सारे अनर्थ वास्तवमें इन्हीं दोनोंके उत्पन्न किये हुए समझना चाहिये ।

यद्यपि कुशास्त्रसंस्कारादि अनर्थ उत्पन्न करनेके कारण हैं, परन्तु वे कादाचित्क हैं अर्थात् उनका योग कभी २ जुड़ता है । पर राग द्वेषादि ऐसे नहीं हैं, वे अज्ञान और मिथ्यात्व भावोंको निरन्तर उत्पन्न करते हैं । इसके सिवाय कुशास्त्रोंके उपदेशका सुनना आदि होनेपर भी अनर्थ होनेका नियम नहीं हैं, हो और नहीं भी हो। इस प्रकारसे इसमें व्यभिचार है, अर्थात् नियम नहीं है । परंतु रागादि भाव ऐसे हैं कि, उनके कारण महा अनर्थोंके गड्ढेमें पड़ना ही पड़ता है। इसमें व्यभिचार नहीं है—नियम है । क्योंकि रागद्वेषसे जीता गया जीव अज्ञानरूपी घोर अंधकारमें प्रवेश करता है, नाना प्रकारके मिथ्यात्वके भेदोंको धारण करता है, सैकड़ों बुरे काम करता है, और उनसे बड़े भारी कर्मोंका संचय करता है। पश्चात् उन कर्मोंका विपाक होनेपर अर्थात् उनके उदयमें आनेपर कभी देवोंमें उत्पन्न होता है, कभी मनुष्योंमें उपजता है, कभी पशु होता है और कभी महानरकोंमें जाकर पड़ता है। तथा उक्त चारों गतियोंमें जैसा कि पहले

कह चुके हैं, महान् दुःखोंको अरहटकी घड़ियोंके समान निरन्तर अनन्तवार भोगता हुआ भ्रमण करता है। ऐसी स्थितिमें भिखारीके वर्णनमें जो कहा है कि, उसे शीत, आताप, डांस, मच्छर, भूख, प्यास आदि घोर नरकके समान वेदनाएं पीड़ित करती हैं, सो उन सबको इस जीवके सम्बन्धमें घटित कर लेना चाहिये।

और वहां कहा है कि, "उस भिखारीको देखकर सज्जनोंको दया उत्पन्न होती है, मानी पुरुषोंको हंसी आती है, बालकोंको खेल सूझता है और पापकर्म करनेवालोंके लिये पापकर्मोंके फलका दृष्टान्त मिलता है।" सो भी सब इस संसार नगरमें मेरे जीवके विषयमें योजित कर लेना चाहिये,—यह जीव निरन्तर असातारूपी सन्निपातसे ग्रसित दिखलाई देता है, इसलिये शान्ति सुखके रसमें जिनका आत्मा अतिशय तन्मय हो रहा है, उन ज्ञानी साधुओंकी कृपाका स्थान तो होना ही चाहिये। क्योंकि उनका चित्त दुखी जीवोंपर सर्वदा ही करुणाभावमय रहता है। और जो सरागसंयमी मुनि तपश्चरण करनेमें निरन्तर उद्यत रहते हैं वे अपनी वीरताके अभिमानमें मानी पुरुषोंके समान यह सोच करके कि, इस धर्मपुरुषार्थके साधन करनेमें असमर्थ जीवका पुरुषत्व किस कामका? अनादर दृष्टिसे देखते हैं; इस लिये उनके हास्यका स्थान समझना चाहिये। और जिनके चित्तमें मिथ्यात्व बस रहा है, तथा जिन्होंने किसी प्रकारसे लवमात्र विषयसुख पाया है, ऐसे बालजीवोंके लिये (मूर्खोंके लिये) यह पापी जीव खेल करनेका स्थान है। क्योंकि जिनका चित्त धनके घमंडसे उद्धत रहता है, वे ऐसे कर्म करनेवालोंकी नाना प्रकारसे विडम्बना करते हैं, यह प्रत्यक्ष ही देखनेमें आता है। और जब पापके फलोंका निरूपण किया जाता है, तब ऐसा जीव दृष्टान्तस्वरूप होता ही है। क्योंकि

भगवान् तीर्थंकर अथवा अन्य आचार्य जब पाप कर्मोंका स्वरूप प्रगट करते हैं, तब भव्य जीवोंके हृदयमें संसार–देह–भोगोंसे भय उत्पन्न करनेके लिये ऐसे ही जीवोंका उदाहरण देते हैं।

और आगे जो उस दरिद्रीके वर्णनमें कहा है कि, "उस महा नगरमें और भी अनेक रंक देखे जाते हैं, परन्तु निष्पुण्यकके समान अभागोंका शिरोमणि दूसरा कोई नहीं है।" सो मैंने अपने जीवका अत्यन्त विपरीत आचरण अनुभव करके कहा है। क्योंकि इसके जन्मके अंधेपनको भी नीचा कर देनेवाला महामोह है, नरकके संतापको भी पराजित करनेवाला राग है, जिसकी कोई उपमा नहीं मिल सकती ऐसा दूसरोंसे द्वेष है, अग्निकी भी हँसी करनेवाला क्रोध है, सुमेरु पर्वतको भी छोटा करनेवाला मान है, नागिनीकी चालको भी जीतनेवाली माया है, स्वयंभूरमण समुद्रको भी थोड़ा दरसानेवाला लोभ है, और स्वप्नकी प्यासके समान विषयलम्पटता है। जिनेन्द्र भगवानके धर्मकी प्राप्तिके पहले मुझमें ये सब दोष थे; यह मुझे स्वसंवेदनसे (आत्मानुभवसे) ज्ञात हुआ है। और इसीलिये मैं समझता हूं कि दोषोंकी इतनी उत्कटता जितनी कि मुझमें है, बहुतकरके दूसरे जीवोंमें नहीं है। अर्थात् मेरे समान अभागी और कोई दूसरा नहीं है। यह बात युक्तिसे किस तरह घटित होती है, सो मैं आगे अपने प्रतिबोधित होनेके अवसरमें विस्तारसे कहूंगा।

वह दरिद्री 'अदृष्टमूलपर्यन्तनगरमें' भिक्षाके लिये घर २ फिरता हुआ इस प्रकार विचार करता है कि, "मुझे अमुक देवदत्तके बन्धुमित्रके, अथवा जिनदत्तके घरपर स्निग्ध (चिकनी), मीठी, बहुतसी और उत्तम प्रकारसे बनी हुई भिक्षा मिलेगी। उसे मैं झटपट ऐसे एकान्त स्थानमें जहां कि दूसरे भिखारी नहीं देख सकेंगे ले जाऊंगा

और वहां थोड़ीसी खाकर बाकी दूसरे दिनके लिये रख दूंगा। उस समय दूसरे भिखारी किसी तरहसे जान जावेंगे कि, इसे भीख मिली है, और मेरे पास आकर मांगेगे तथा उपद्रव करेंगे, परन्तु मैं प्राण जानेपर भी उन्हें अपनी भीख नहीं दूंगा। यदि वे जबर्दस्ती मेरा भोजन छुड़ावेंगे, तो मैं उनके साथ लड़ना प्रारंभ करूंगा। यदि उस समय वे मुझे लकड़ी मुक्कों तथा ढेलोंसे मारेंगे, तो मैं एक बड़ा भारी मुद्गर लूंगा और उनका एक एकका चूरा बना डालूंगा। वे पापी मेरे मारे कहां जावेंगे?" ऐसे ऐसे अनेक प्रकारके झूठे विकल्पोंसे आकुल व्याकुल होकर वह निरन्तर केवल रौद्रध्यान ही किया करता है। परन्तु बेचारा घरघर भटकनेपर भी थोड़ीसी भी भीख नहीं पाता है। उलटा अपने चित्तके खेदको अनन्तगुणा कर लेता है। और यदि कभी दैवयोगसे थोड़ीसी भीख पा लेता है, तो उससे एक बड़े भारी राज्यका अभिषेक पानेके समान अर्थात् राजा हो जानेके समान अत्यन्त आनन्दित होता है और सारे संसारको अपनेसे नीचा समझता है। भिखारीके इस सारे चरित्रकी योजना मेरे जीवके विषयमें इस प्रकारसे करना चाहिये:—

संसाररूपनगरमें निरन्तर भ्रमण करते हुए इस जीवको शब्द, वर्ण, रस, आदि २८ प्रकारके विषय, भाई, पिता, आदि बन्धु, सोना, चांदी आदि धन, तथा इनके सिवाय क्रीड़ा विकथादि और भी जो जो संसारके कारणरूप पदार्थ प्राप्त होते हैं, उन सबको कदन्न अर्थात् भीखका बुरा भोजन समझना चाहिये। क्योंकि कदन्नके समान ये सब पदार्थ भी वृद्धिरूप होनेवाले, रागादि भाव रोगोंके करनेवाले, और कर्मसंचयरूपी महा अजीर्णके करनेवाले हैं। और जिस प्रकार वह भिखारी विचार करता है, उसी प्रकारसे यह महामोहग्रसित जीव

भी चिन्तवन करता है "कि, मैं वहुतसी स्त्रियोंके साथ विवाह करूंगा, वे अपने रूपसे तीनों लोकोंको पराजित करेंगी, सौभाग्यसे कामदेवका भी साम्हना करेंगी, अपने नानाप्रकारके विलासोंसे (नखरोंसे) मुनियोंके चित्तोंको भी क्षुभित करेंगी, कलाओंसे वृहस्पतिकी भी हँसी करेंगी और विज्ञानसे अतिशय मानी पंडितोंके चित्त भी रंजायमान करेंगी। ऐसी रूपगुणसम्पन्न स्त्रियोंका मैं हृदयवल्लभ होऊंगा। वे मेरे सिवाय दूसरे पुरुषोंकी गन्ध भी सहन न करेंगी, मेरी आज्ञाका कभी उल्लंघन न करेंगी, मेरे चित्तको निरन्तर अतिशय आनन्दित किया करेंगीं, वनावटी क्रोध दिखलाकर मैं रूठ जाऊंगा, तो वे मुझे मनाकर प्रसन्न करेंगी, कामक्रीडारूप कार्य सिद्ध करनेके लिये घूंसरूप सैकड़ों चाटुकार (खुशामदें) करेंगी, इशारोंसे मेरे हृदयके सद्भावोंको प्रगट किया करेंगी, नाना प्रकारके विव्वोक[1] हावोंसे मेरे हृदयको हरण करेंगी और निरन्तर परस्परकी ईर्षासे वे मेरे ऊपर कटाक्षोंके वाण छोड़कर इच्छापूर्वक मुझे घायल करेंगी। और मेरा इन्द्रके परिवारकी भी हँसी करनेवाला, विनयवान, चतुर, शुद्धचित्त, सुन्दर वेशवाला, अवसर देखकर कार्य करनेवाला, मनको रुचनेवाला, मुझपर प्यार करनेवाला, सारे उपाय करनेमें तत्पर, शूरवीर, उदार, सारी कलाओंका जाननेवाला, और सत्कार करनेमें कुशल, परिवार होगा। मेरे ऐसे वहुतसे महल होंगे, जो अपनी यशरूपी स्वच्छ कलईकी सफेदीके कारण अपने चित्तके समान शोभित होंगे, वहुत वड़ी ऊंचाईके कारण हिमालय पर्वतकी शंका उत्पन्न करेंगे, नाना प्रकारके विचित्र २ चित्रोंसे दर्शनीय होंगे, चँदोवोंसे शोभित होंगे, नेत्रोंको आनंदित करनेवाली

---

१ स्त्रियां जिस भावसे स्नेहके वश पतिका अनादर करती हैं, उसे विव्वोक हाव कहते हैं।

अनेक प्रकारकी पुतलियों आदिकी रचनासे युक्त होंगे, उनमें बहुत प्रका-
रकी भोजनशाला गोशाला रतिशाला आदि शालाएं होंगी, बहुत विस्तार
होगा, अनेक तरहके प्रकोष्ठ (कोठे) होंगे, खूब लम्बे चौड़े अनेक
आकारके सभामंडप होंगे, वे चारों ओरसे बड़े भारी कोटसे घिरे हुए
होंगे, इन्द्रके महलोंकी भी हँसी करेंगे, और सात सात आठ आठ
खनके होंगे। मेरे इन महलोंमें मरकत, इन्द्रनील, महानील, कर्केतन,
पद्मराग, वज्र, वैडूर्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, चूड़ामणि, और पुष्प-
राग आदि रत्नोंकी राशियां प्रकाश करेंगी, सोनेके ढेर अपने पीले
प्रकाशको चारों ओर प्रदर्शित करते हुए शोभा देंगे, धान्य, चांदी
और दूसरी धातुएं इतनी अधिक होंगीं कि, उनका अनादर होने
लगेगा, मुकुट, बाजूबन्द, कुंडल और प्रालम्ब[1] आदि भूषण मेरे हृद-
यको आनन्दित करेंगे, चीनांशुक (रेशमी), पट्टाँशुक (सूती)
और देवांशुक (देवदूष्य) वस्त्र मेरे चित्तमें प्रेम उत्पन्न करेंगे, म-
हलके समीपवर्ती लीला करनेके ऐसे बगीचे मेरे हृदयको आन-
न्दको बढ़ावेंगे, जिनमें कि मणि सुवर्णादिकी विचित्र रचनासे मंडित
क्रीड़ा करनेके पर्वत शोभित होंगे, दीर्घिका, (बावड़ी), गुंजा-
लिका, और यंत्रवापिका[2] आदि अनेक प्रकारके जलाशयोंके
कारण जो मनको हरण करनेवाले होंगे, बकुल, पुन्नाग (नाग-
केशर), नाग (नागबेल), अशोक, चम्पक आदि विविध
प्रकारके वृक्षोंके कारण जो विस्तृत होंगे, पांचों रंगके सुगंधित
और सुन्दर फूलोंके भारसे शाखाओं तक नम्र हुए कुमद कोकनद
आदि कमलोंसे जो सुन्दर होंगे, और जहां घूमते हुए भौंरोंके
सुन्दर गुंजारयुक्त गीत होते होंगे। सूर्यके रथोंकी सुन्दरताको

---

१ कंठसे नीचे लटकनेवाली माला। २ जिस बावड़ीमें फव्वारे लगे हुए हों।

भी जीतनेवाले मेरे रथ मुझे प्रमुदित करेंगे। इन्द्रके ऐरावत हाथीके माहात्म्यको भी नष्ट करनेवाले मेरे श्रेष्ठ हाथियोंकी श्रेणी मुझे हर्षित करेगी। सुरेन्द्रके घोड़ोंको नीचा दिखानेवाले करोड़ों घोड़े मुझे संतोषित करेंगे। मेरे आगे २ दौड़नेवाले, मुझपर प्रेम करनेवाले, दूसरोंको दूर करनेमें चतुर, परस्पर एक चित्तवाले और एक दूसरेसे अतिशय सटे हुए असंख्य पैदल सिपाही मेरे हृदयको उल्लासयुक्त करेंगे। नमस्कार करनेमें अनुराग रखनेवाले अनेक राजा अपनी मुकुटमणियोंकी किरणोंसे मेरे चरण कमलोंको प्रतिदिन रंजित करेंगे। मैं बहुत बड़ी पृथ्वीका मांडलिक राजा होऊंगा और बृहस्पतिकी बुद्धिका भी तिरस्कार करनेवाले मेरे बड़े २ मंत्री राज्यके सारे कार्योंको चलावेंगे।" ये सब मनोरथ भिखारीकी अच्छी भिक्षा मिलनेकी इच्छाके तुल्य समझना चाहिये। और भी यह जीव विचार करता है कि, "जब मैं अतिशय समृद्धिशाली और निश्चिन्त हो जाऊंगा और इसलिये जब सब प्रकारकी सामग्री मेरे पास हो जायगी, तब विधिपूर्वक 'कुटीप्रावेशिक[1]' रसायन सिद्ध करूंगा। उसके सेवन करनेसे मैं सिकुड़नवालोंकी सफेदी, गंजापन, अंगहीनता आदि दोषोंसे रहित, जरामरणरूप विकारोंसे मुक्त, देवकुमारोंसे भी अधिक कान्तिवाला, सम्पूर्ण विषयोंके भोगनेमें समर्थ और बलवान् शरीर प्राप्त करूंगा।" यह सब पाई हुई भिक्षाको एकान्त स्थानमें ले जानके मनोरथके समान समझना चाहिये।

और भी विचार करता है कि,—"इस प्रकारका शरीर प्राप्त होनेपर मैं अपने मनमें बहुत ही प्रसन्न होऊंगा और गहरे प्रेमसमुद्रमें डूबकर उन मनोहर स्त्रियोंके साथमें इस प्रकार क्रीड़ा करूंगा,—कभी

---

१ कोई इस प्रकारकी रसायन जिसके कारण नीरोगी सुन्दर शरीर प्राप्त हो।

निरन्तर प्रवर्तमान मदनरसके वशमें होकर बहुत समय तक सुरत[1]-क्रीड़ासे स्पर्शनेन्द्रियको प्रसन्न करूंगा, कभी रसनेन्द्रियको सन्तुष्ट करनेके लिये सारी इन्द्रियोंको स्वस्थ करनेवाले तथा बल देनेवाले मनोज्ञ रसोंका स्वाद लूंगा, कभी अतिशय सुगंधित कपूर मिले हुए चन्दन, केशर और कस्तूरीका विलेपन करके पांच प्रकारकी सुगंधिसंयुक्त ताम्बूलका स्वाद लेनेके बहाने नासिका इन्द्रियको तृप्त करूंगा, कभी ऐसे नाटकोंको देखकर जिनमें कि निरन्तर मृदंगोंकी ध्वनि होती है, देवांगनाओंका भ्रम उत्पन्न करनेवाली सुन्दर स्त्रियां जिन्हें खेलती हैं, नानाप्रकारके वेष जिनमें धारण किये जाते हैं, और अंगहार[2] नामक नृत्यसे जो मनको हरण करता है नेत्रोंको आनन्दित करूंगा, कभी मधुर कंठवाले और गायनविद्याके प्रयोगोंको अच्छी तरहसे जाननेवाले गंधर्वोंके बांसुरी, वीणा और मृदंगोंके साथ गाये हुए सूक्ष्म मधुर और अस्पष्ट ध्वनिसंयुक्त गीतोंको सुनकर कानोंको आल्हादित करूंगा और कभी सारी कलाओंके जाननेवाले, समान अवस्थावाले (हमउमर), अपना हृदयसर्वस्व सौंप देनेवाले अर्थात् परस्पर किसीसे कुछ छुपा न रखनेवाले, उत्कृष्ट, शूरता, उदारता और पराक्रमवाले, और सुन्दरतामें कामदेवके भी रूपपर हँसनेवाले मित्रोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीड़ा करता हुआ सारी इन्द्रियोंको आल्हादित करूंगा।" इन सब विचारोंको उस भीखको एकान्तमें खानेकी इच्छाके समान समझना चाहिये।

फिर विचार करता है कि,—"इस प्रकारसे बहुतकाल तक परमोत्कृष्ट सुख भोगते रहनेपर मुझे ऐसे सैकड़ों पुत्र प्राप्त होंगे, जिनका स्वरूप देवकुमारों सरीखा होगा, जो शत्रुओंकी स्त्रियोंके हृदयमें दाह

---

[1] स्त्री-संभोग। [2] जिस नृत्यमें अंगुलियां तथा दूसरे अंग मटकाये जाते हैं।

उत्पन्न करेंगे (कि, हाय हमारे ऐसे पुत्र न हुए), सारे कुटुम्बी तथा प्यारे लोगोंकी नाना प्रकारकी प्रकृतियोंको प्रसन्न करेंगे, सबके मनकी करेंगे और जिन्हें देखकर मेरे ही प्रतिविम्बकी शंका उत्पन्न होगी (कि, इनका रूप ठीक पिताके समान है), और तब मैं सर्व मनोरथ पूर्ण हो जानेसे और सारे विघ्नोंका नाश हो जानेसे अपनी इच्छानुसार अनंत काल तक विचरण करूंगा।" यह सब उस भीखके कदन्नको बहुत दिनोंके लिये रख छोड़नेके मनोरथ तुल्य समझना चाहिये।

आगे यह जीव फिर विचार करता है कि:—" मेरे इस प्रकारके वैभवकी बढ़तीको यदि कभी दूसरे राजा लोग सुन लेंगे, तो वे ईर्षासे सबके सब एकत्र होकर मेरे देशपर चढ़ आवेंगे, और उपद्रव मचावेंगे। यह देख मैं शीघ्र ही चतुरंगिनी सेनाके साथ उनपर टूट पड़ूंगा। और वे भी अपनी सेनाके घमंडसे मेरे साथ संग्राम करने लगेंगे। फिर क्या है, बहुत समय तक दोनोंका घोर युद्ध होगा। उस समय यदि वे परस्पर सटे हुए होनेसे तथा बहुतसे साधन पाजानेसे मुझपर जरा भी आक्रमण करेंगे, तो मेरा क्रोध एकाएक बढ़ जायगा और उससे रणका उत्साह इतना प्रबल हो जायगा कि, उनको मैं एक एक करके सेनासहित चूर्ण कर डालूंगा। मेरे बाँधे हुए उन सब योद्धाओंका पातालमें प्रवेश करनेपर भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। अर्थात् वे किसी तरहसे नहीं बच सकेंगे।" दरिद्री विना समयके ही जो लड़ाई करनेका विचार करता है, यह प्रसंग उसीके समान समझना चाहिये।

फिर विचार करता है कि,—" इसके पश्चात् पृथ्वीके समस्त राजाओंका जीतनेवाला होनेके कारण मैं चक्रवर्ती पदको प्राप्त करूंगा—

मेरा चक्रवर्ति-राज्याभिषेक किया जावेगा। उससमय तीन भुवनमें ऐसी कोई भी वस्तु न रहेगी, जो मुझे प्राप्त नहीं होगी।" इस प्रकारसे यह राजपुत्र आदि अवस्थाओंमें वर्तता हुआ जीव बहुतसे निरर्थक विकल्पोंसे जो एकके बाद एक उठा करते हैं, अपने आपको व्याकुल किया करता है-रौद्रध्यान करता है, और उससे सघन कर्मोंका बंध करके महान् नरकोंमें पडता है। इन राजकुमार आदि अवस्थाओंमें यद्यपि यह जीव अनेक प्रकारसे खेदित होता है, परन्तु तो भी पूर्वोपार्जित पुण्यके अभावसे अपने हृदयकी तापको छोड़कर और किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं करता है। इससे यह समझना चाहिये कि यह जीव राजकुमारादि अवस्थाओंमें यद्यपि अतिशय विशालचित्त होनेके कारण छोटी वस्तुओंपर अपने मनोरथको नहीं जाने देता है तथा बहुतसे धनकी चाह रहनेके कारण अपनी बुद्धिसे भी बड़ा उदार रहता है, तो भी जिन्होंने शान्तिरूपी अमृतके आस्वादन करनेका सुख अनुभव किया है, पंचेन्द्रियके विषयोंका दुखदाई परिणाम जिन्हें ज्ञात है और सिद्धिरूपी नवीन स्त्रीसे सम्बन्ध करनेका जिन्होंने निश्चय-कर लिया है, ऐसे ज्ञानवान् और श्रेष्ठ साधुओंको वह क्षुद्र भिखारीके समान ही प्रतिभासितहोता है, फिर अन्य अवस्थाओंकी तो कथा ही क्या है? अर्थात् जब राजकुमारादि ऊंची अवस्थाओंमें भी इस जीवको वे भिखारी समझते हैं, तब और साधारण नीची अवस्थाओंमें तो समझेंहीगे। आगे इसी बातको स्पष्ट करके दिखलाते हैं:-

जब तत्त्वमार्गका (सच्चेधर्मका) नहीं जाननेवाला यह रंक जीव ब्राह्मण, वैश्य, अहीर, और अंत्यज (नीच) आदि जातियोंमें उत्पन्न होता है, तब इसे यदि कभी दो तीन छोटे २ गांवोंका ही स्वामीपन मिल जाता है, तो अपने तुच्छ अभिप्रायोंके कारण यह समझ

बैठता है कि, मैं चक्रवर्ती हो गया हूं। यदि कभी किसी खेतके एक टुकड़ेका मालिक हो जाता है, तो जानता है कि मैं महामांडलिक राजा हो गया हूं। कभी कोई व्यभिचारिणी कुलटा स्त्री मिल जाती है, तो उसे देवांगना समझ लेता है। कभी अपने किसी २ अंगके बिलकुल बेडौल होनेपर भी आपको कामदेव सरीखा सुन्दर मानता है। कभी चांडालोंके मुहल्ले सरीखे अपने परिवारके लोगोंको इंद्रके परिजनोंके समान मान लेता है। कभी तीन चार हजार, तीन चार सौ, अथवा तीन चार वीसी रुपयोंके लाभको ही समझ लेता है कि मैं कोट्याधीश हो गया हूं। कभी पांच छह द्राणे (३२ सेर वजनका माप) धान्यके पैदा हो जानेको कुवेरकी सम्पत्तिके समान मान लेता है। कभी अपने कुटुम्बके भरणपोषणको ही महाराज्यका पा लेना समझता है। कभी केवल अपने कठिनाईसे भरे जानेवाले पेटके भर लेनेको ही बड़ा भारी उत्सव मान लेता है। कभी भीखके मिल जानेको ही जीवनका मिल जाना निश्चय कर लेता है। और कभी शब्दादि विषयोंके भोगनेमें लवलीन हुए किसी राजाको अथवा अन्य किसी भाग्यवान् पुरुषको देखता है, तो "यह इन्द्र है, यह देव है, यह वन्दनीय है, यह पुण्यवान है, यह महात्मा है, यदि इसके सरीखे विषय मुझको प्राप्त होवें, तो मैं भी उन्हें भोगूं।" इस प्रकार चिन्ता करता हुआ व्यर्थ ही क्लेश करता है।

फिर इन विचारोंसे विडम्बित हुआ जीव उक्त विषयोंकी प्राप्तिके लिये राजाओंकी सेवा करता है, उनकी उपासना करता है, सदा नम्रता प्रगट करता है, उनके अनुकूल उन्हीं जैसा बोलता है अर्थात् 'जी हां जी हां' किया करता है, स्वयं चाहे दुखी हो, परन्तु उनके हंसनेपर हँसता है, निज पुत्रके उत्पन्न होनेसे आपको चाहे अतिशय

आनन्द हुआ हो, परन्तु उनके रोनेपर रोता है, अपने चाहे शत्रु हों, पर राजाके प्यारे हों, तो उनकी प्रशंसा करता है, इसी प्रकार अपने मित्रकी भी यदि वह राजाका वैरी हो, तो निन्दा करता है, रातदिन आगे २ दौड़ता है, स्वयं थकामांदा हो, तो भी उनकी पग-चंपी करता है, अपवित्र स्थानोंको धोता है, उनके कहनेसे सारे नीच कर्म करता है, यमराजके मुंहके समान युद्धके मुंहमें प्रवेश करता है, तरवार आदि हथियारोंके घावोंके सहन करनेको अपना वक्षःस्थल समर्पण कर देता है, और इस तरह धनकी इच्छा करनेवाला यह रंक जीव मनोरथ पूर्ण किये विना ही मर जाता है।

कभी यह खेती करनेका आरंभ करता है, तो उसके कारण रातदिन खेदित होता है, हल जोतता है, जंगलमें रहकर पशुजीव-नका अनुभवन करता है, अर्थात् पशुओंके समान जिन्दगी बिताता है नानाप्रकारके प्राणियोंका घात करता है, पानीके नहीं वरसनेसे संताप करता है और बीजके नाश हो जानेसे दुखी होता है।

कभी व्यापार आरंभ करता है, तो उसमें झूठ बोलता है, विश्वास करनेवाले भोले लोगोंको लूटता है, देशान्तरोंको जाता है, शीतका कष्ट भोगता है, धूपकी गर्मी सहता है, भूखों मरता है, प्यासको नहीं गिनता है, भय और परिश्रमजन्य सैकड़ों दुःखोंका अनुभव करता है, अतिशय भयानक समुद्रोंमें प्रवेश करता है, और उसमें जहाजके फट जाने अथवा टूट जानेसे डूबकर जलचर जीवोंका भो-जन बन जाता है। कभी पर्वतोंकी कन्दराओंमें फिरता है, असुरोंकी गुहाओंमें जाता है, और रसकूपिकाओंका शोध करता है, जिससे कि उनके रक्षक राक्षस उसका भक्षण कर जाते हैं। कभी और भी वड़ा साहस करता है—रातको स्मशानोंमें जाता है, मरे हुए मनुष्योंके

शरीरोंको उठाता है, और उनके मांसको बिखराता है, इस तरह नीच जातिके वेतालोंको (प्रेतोंको) साधता है, और उनके क्रोधित होनेपर अन्तमें मारा जाता है. । कभी खन्यवाद अर्थात् खनिज-विद्याका अभ्यास करता है, और उससे धनके लक्षणोंवाली भूमिका निरीक्षण करता है, यदि कहीं कुछ मिल जाता है, तो उसको देखते ही संतुष्ट होता है, उसके ग्रहण करनेके लिये रातको जीवोंकी बलि देता है, परन्तु जब उस धनके हंडेमें जलते कोयले भरे हुए पाता है, तो बहुत ही दुखी होता है । कभी धातुवादका अनुशीलन वा अभ्यास करता है, धातुवादियोंकी भेंट करता है—सुश्रूषा करता है, उनके उपदेशको ग्रहण करता है, बहुतसी जड़ी बूटियोंको एकत्र करता है, धातुओंकी मिट्टी (धाऊ) लाता है, पारेको समीप रखता है, उसके जारण (जलाना), चारण (उड़ाना) और मारण करनेमें कष्ट पाता है, रातदिन धोंकता है, घड़ी घड़ीमें चिल्लाता है, पीले तथा सफेद होनेकी थोड़ीसी भी सिद्धि देखकर हर्षित होता है, रातदिन आशाके लड्डु खाता है, और इस क्रियामें अपने पास जो थोड़ा बहुत धन बचा हुआ होता है, उसको भी खर्च कर देता है, और अन्तमें जब यह सोना चांदी बनाना सिद्ध नहीं होता है, तब इसके विभ्रमसे अथवा पागलपनसे मर जाता है।

कभी विषयभोगोंकी प्राप्ति हो सके, इसलिये यह जीव धन चाहता है और उसके लिये चोरी करता है, जूआ खेलता है, यक्षिणीकी आराधना करता है, मंत्रोंका जपन करता है, ज्योतिषकी गणना करता है, निमित्त मिलाता है, लोगोंके चित्तोंका आकर्षण करता है, और सारी कलाओंका अभ्यास करता है; अधिक कहनेसे क्या ऐसा कोई कार्य नहीं है, जिसे धनके लिये यह जीव नहीं करता है, ऐसा

कोई वचन नहीं है जिसे यह नहीं बोलता है, और ऐसा कोई कार्य संभव नहीं है, जिसे यह नहीं विचारता है। इस प्रकार धनके लिये इधर उधर निरन्तर भ्रमण करता हुआ भी यह पूर्वपुण्यरहित जीव जितना धन चाहता है, उसमेंसे तिल तुप मात्रका तीसरा हिस्सा भी नहीं पा सकता है। केवल अपने चित्तके संतापको, आर्तरौद्र ध्यानके कारण गुरुतर (अधिक स्थितिवाले) कर्मोंको और उनके द्वारा अपनी दुर्गतिको बढ़ाता है।

यदि कभी पूर्वजन्मका किया हुआ कुछ पुण्य होता है, तो उसके उदयसे यह जीव हजार दश हजार लाख दश लाख रुपया, अथवा प्यारी स्त्री, अथवा अपने शरीरकी सुन्दरता, अथवा विनयवान कुटुम्ब, अथवा धान्यका संग्रह, अथवा दो चार गांवोंका स्वामीपन, अथवा थोड़ा बहुत राज्यादि प्राप्त लेता है। और तब जिस प्रकार वह भिखारी जरासे कदन्नको पाकर गर्वमें आगया था, उसी प्रकारसे यह जीव भी मतवाला हो जाता है और मदरूपी सन्निपातसे ग्रसित होनेके कारण किसीकी प्रार्थना नहीं सुनता है, दूसरे लोगोंकी ओर देखता नहीं है, गर्दनको झुकाता नहीं है, मीठे वचन बोलता नहीं है, विना ही समयके आंखें मीचता है—ऊंघता है, और गुरुओंका अपमान करता है। अतएव इस प्रकारके ओछे अभिप्रायोंसे जिसका निजस्वरूप नष्ट हो गया है ऐसा यह जीव, सम्यग्ज्ञानादि रत्नोंसे भरपूर होनेके कारण जो परम ऐश्वर्यशाली हैं, ऐसे ज्ञानी मुनिराजोंको क्षुद्र भिखारीसे भी अधम क्यों न प्रतिभासित होवे? होना ही चाहिये।

और जब यह जीव पशु शरीरको तथा नरकायुको धारण करता है, तब तो भिखारीकी भी उपमाको लंघन कर जाता है अर्थात् भिखा-

रीसे भी नीच प्रतीत होता है। क्यों कि जिनके विवेकरूपी धन है, ऐसे महर्षियोंको जब महा ऋद्धियोंके धारण करनेवाले, अतिशय कान्तिवाले, अनुपम विषयभोगोंके भोगनेवाले और बड़ी २ लम्बी अवस्थाओंवाले इन्द्रादिदेव ही यदि वे सम्यग्दर्शनादि रत्नोंसे रहित हों, तो अतिशय दरिद्री और बिजलीके विलास सदृश क्षणभंगुर जीवनक धारण करनेवाले जान पड़ते हैं, तब फिर दूसरे संसाररूपी उदरकी गुफामें रहनेवाले क्षुद्र जीवोंकी तो बात ही क्या है? अर्थात् वे तो अतिशय दरिद्री हैं ही।

जैसे वह निष्पुण्यक लोगोंसे अनादरपूर्वक पाये हुए उस घिनौने भोजनको खाते समय यह शंका किया करता था कि, "कोई बलवान् इसे छीन न ले जावे" उसी प्रकारसे यह महामोहसे मारा हुआ जीव भी जब अनेक क्लेशोंसे उपार्जन किये हुए धन तथा स्त्री आदि दूसरे भोगोंको भोगता है, तब चोरोंसे डरता है, राजाओंके आकस्मिक भयोंसे भयभीत रहता है, दायादोंके (हिस्सेदारोंके) भयसे कांपता रहता है, याचकोंके कारण उद्वेजित रहता है—उनसे पीछा छुटाना चाहता है और अधिक कहनेसे क्या यह जिन्हें किसी भी पदार्थकी वांछा नहीं रहती है, ऐसे अत्यन्त निःस्पृह मुनियोंकी ओरसे भी शंकित रहता है। वह समझता है कि, ये उपदेशरूप वचनोंके घटाटोपसे ठगकर मुझसे मेरी यह धनादि सामग्री लेना चाहते हैं। इस प्रकार अतिशय मूर्च्छारूप (इच्छारूप) विषयसे अभिभूत होकर यह सोचता है कि, मेरे ये धनादि पदार्थ अग्निसे जल जावेंगे, नदीके प्रवाहमें बह जावेंगे, चोरादि इन्हें हर ले जावेंगे, इसलिये इन्हें सुरक्षित करना चाहिये। और फिर किसी भी पुरुषका भरोसा नहीं होनेके कारण यह अकेला ही रातको उठकर भूमिमें बहुत गहरा गड्ढा खोदकर और बिना किसी प्रकारका

शब्द किये हुए जाकर उसमें अपनी सम्पतिको गड़ाता है, फिर उस गढ्ढेको पूरकर जमीनको बराबर कर देता है, तथा ऊपर धूल कचड़ा आदि डाल देता है। इस तरह कोई मनुष्य जान न सके, ऐसी सावधानीसे यह कार्य सम्पादन करता है। परन्तु तत्काल ही यह विचार करके कि, कहीं मैं स्वयं ही इसे नहीं पहिचान सका तो? उस स्थानपर नानाप्रकारके चिन्ह कर देता है। दूसरे कार्योंके लिये उस स्थानपरसे जाते हुए लोगोंकी ओर बारबार देखता है और यदि कभी किसी मनुष्यकी दृष्टि उस ओर जाती है, तो डर जाता है और "हाय! इसने तो जान लिया," ऐसा समझकर तीव्र मोहसे जलता हुआ रातभर नींद नहीं लेता है। बीचमें ही उठकर उस स्थानपर जाता है, उस धनको खोदकर निकाल लेता है और दूसरे किसी स्थानमें फिर गड़ा देता है। उस समय भयके मारे चारों दिशाओंकी ओर अपनी दृष्टिको फेंकता जाता है (कि, कहीं कोई देखता तो नहीं है) और मुझे कोई देख लेगा, इस चिन्ताके कारण वह जो दूसरी हलन चलनादि क्रियाएं करता है, वे भी केवल शरीरसे करता है। क्योंकि मन तो धनके बंधनमें ऐसा जकड़ा हुआ होता है कि, उस स्थानसे दूसरे स्थानको एक पैर भी नहीं चल सकता है। इस प्रकार सैकड़ों उपायोंसे रखाया हुआ भी वह द्रव्य कोई न कोई देख लेता है, और निकाल ले जाता है। तब विना समयके वज्र पड़नेसे जैसे किसीका शरीर दलित हो जाता है, उसके समान होकर 'हाय माता! हाय पिता! हाय भाई!' इसप्रकार बिललाता हुआ सारे ज्ञानी जनोंके चित्तोंको दयासे व्याप्त कर देता है। अथवा अतिमूर्च्छारूप व्याघ्रके भक्षण किये जानेसे अर्थात् शोकके कारण अतिशय मूर्छित हो जानेसे मर जाता है।

इस प्रकार थोड़ेसे धनमें जिनके चित्तकी वृत्तियां उलझी हुई रहती हैं, उनकी चेष्टाओंका संक्षेपरूप वर्णन किया।

इसी प्रकारसे जब इस जीवको अपनी स्त्रीकी रक्षा करनेरूप ग्रह ग्रसित करता है, और ईर्षारूप शल्य जब इसके हृदयमें चुभती है, तब दूसरा कोई मेरी स्त्रीको देख नहीं लेवे, ऐसी दृष्टि रखता हुआ घरसे बाहर नहीं निकलता है, रातको सोता नहीं है, माता पिताको छोड़ देता है, कुटुंबीजनोंके स्नेहको शिथिल कर देता है, अपने प्यारेसे भी प्यारे मित्रको घरमें नहीं आने देता है, धर्मकार्योंका निरादर करने लगता है, लोग निंदा करेंगे, इसकी कुछ परवाह नहीं करता है, केवल उसीके मुंहको निरन्तर देखा करता है, और उसीको परमात्माकी मूर्ति मानकर योगीके समान सारे व्यापारोंको छोड़कर ध्यान किया करता है। वह जो कुछ करती है, उसीको सुंदर मानता है, जो कुछ वह बोलती है, उसीको आनन्दकारी मानता है, वह जो कुछ विचार करती है, उसीको उसकी चेष्टाओंसे जानकर पूर्ण करने योग्य समझता है। फिर मोहसे विडम्बित होकर सोचता है कि, यह मुझपर प्यार करती है, मेरा हित चाहनेवाली है, संसारमें इसके समान सुंदरता, उदारता, और सौभाग्यादि गुणोंसे सुंदर स्त्री और कोई नहीं है।

यदि कभी कोई परपुरुष माता समझकर, बहिन मानकर और देवी जानकर ही उसकी ओर देखता है, तो भी यह जीव मोहके वा मूर्खताके कारण अतिशय क्रोधित, विव्हलचित्त, मूर्च्छित और मरते पुरुषके समान क्या करना चाहिये, इसका विचार नहीं कर सकता है। और यदि कभी उस स्त्रीसे वियोग हो जाता है, अथवा वह मर जाती है, तो यह रोता है, विलखता है, अथवा मर भी जाता है। यदि कभी दुःशीलताके कारण वह परपुरुषगामिनी वा व्यभिचारिणी हो जाती है, अथवा राजा आदि दूसरे पुरुष उसे बलपूर्वक छीन लेते

हैं, तो यह महामोहमें विह्वल होकर जब तक जीता है, तब तक हृदयकी ज्वालासे जलता रहता है अथवा अधिक दुःख होनेसे प्राणोंको ही छोड़ देता है। इस तरह एक एक वस्तुके प्रेममें उलझा हुआ जीव अनेकानेक दुःख पाता है, तो भी विपरीतश्रद्धान वा मिथ्यात्वके कारण उन वस्तुओंकी रक्षा करनेमें चित्तको लगाये हुए निरन्तर ऐसी शंका किया करता है कि, मेरी इस वस्तुको कोई हरण कर ले जायगा।

और जैसा पहले कहा है कि, "उस बुरे भोजनसे पेट भर जानेपर भी भिखारीको संतोष नहीं होता था बल्कि क्षण क्षणमें उलटी भूख वढ़ती थी।" उसी प्रकारसे धन, विषय, स्त्रीआदिरूप बुरे भोजनसे पूर्ति करनेपर भी इस जीवकी अभिलाषाका नाश नहीं होता है, बल्कि उसकी तृष्णा और भी अधिक बढ़ती है। जैसे, कभी सौ रुपया मिल जाते हैं, तो हजारकी चाह होती है। उतने भी हो जाते हैं, तो लाखकी इच्छा होती है। उसकी भी प्राप्ति हो जाने पर करोड़की और फिर उसके प्राप्त होनेपर राज्यकी वांछा होती है। जब राजा हो जाता है, तब चक्रवर्ती होनेकी चेष्टा करता है, और चक्रवर्ती हो जानेपर देव होना चाहता है। जब देव हो जाता है, तब इन्द्रपदकी वांछा करता है और पहले दूसरे स्वर्गका इन्द्र हो जानेपर भी उत्तरोत्तर कल्पस्वर्गोंके स्वामीपनकी प्याससे पागलसा बना रहता है। इस प्रकारसे इस जीवके मनोरथोंकी कभी पूर्ति ही नहीं होती है[1]। जैसे कठिन गर्मीके दिनोंमें चारों ओरकी दावानलकी

---

१ उक्तं च केनचित्कविना—

इच्छति शती सहस्रं ससहस्रः कोटिमीहते कर्तुम्।
कोटियुतोऽपि नृपत्वं नृपोऽपि बत चक्रवर्तित्वं ॥ १ ॥

दाहसे जिसका शरीर झुलस गया है और अतिशय प्यासकी व्याकुलतासे जो मूर्छित होकर गिर पड़ा हो, ऐसे किसी पथिकको वहीं-पर (मूर्छित अवस्थामें) स्वप्न आ जावे और उसमें उसे प्रबल जलत-रंगोंसे आकुलित अनेक जलाशयोंका पानी पी रहा हूं, ऐसा दिखलाई देवे, तो भी उसकी प्यास जरा भी कम नहीं होती है, उसी प्रकारसे इस जीवकी आशा–प्यास भी धन विषयादिकोंसे कम नहीं होती है। अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवने देवोंकी पर्यायोंमें इन्द्रियोंके अनुपम शब्द रस गंधादि विषय अनन्त बार भोगे, अनन्त अमूल्य रत्न प्राप्त किये, कामदेवकी स्त्री रतिके विलासोंका भी तिरस्कार करनेवाली विलासिनी देवाङ्गनाओंके साथ विलास किया, और स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल लोककी सबसे सुन्दर क्रीड़ाओंका भी उल्लंघन करनेवाली नानाप्रकारकी मनोहर क्रीड़ाएं कीं। तो भी अत्यन्त भूखके कारण घुसे हुए पेटवाले दरिद्रीकी नाईं यह जीव उन दिनों भोगे हुए विषयोंका वृत्तान्त जरा भी नहीं जानता है–भूल जाता है, केवल उनकी अभिलाषाओंके संतापसे सूखा करता है।

और पहले जो कहा है कि, "उस भिखारीको लोलुपतासे खाया हुआ वह भीखका भोजन अजीर्ण करता है और जब पच जाता है, तब वात विशूचिका आदि रोग उत्पन्न करके उसे दुखी करता है।" सो इस तरहसे घटित करना चाहिये कि, जब यह राग-द्वेषादि विकारोंसे घिरा हुआ जीव कुभोजनके समान धन–विषय–स्त्री आदि ग्रहण करता है, तब इसे कर्मसंचय वा कर्मबंधनरूप अजीर्ण होता है और जब यह उदय द्वारसे उसे पचाता है अर्थात् कर्मोंको उदय द्वारमें लाता है, तब वे कर्म नरक, तिर्यंच, मनुष्य

चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरोऽपि सुरराज्यमीहते कर्त्तुम्।
सुरराजोप्यूर्ध्वगतिं तथापि न निवर्तते तृष्णा ॥ २ ॥

आर देव गतियोंमें भ्रमण करनेरूप वातविशूचिका आदि रोग उत्पन्न करके इस जीवको बहुत ही दुखी करते हैं। और उस भिखारीके भोजनको जिस प्रकार सारे (नये) रोगोंका कारण और पहले उत्पन्न हुए रोगोंका बढ़ानेवाला कहा है, उसी प्रकारसे इस रागी जीवके भोगे हुए जो विषय आदि हैं, उन्हें पहले कहे हुए महामोह आदि सारे रोगोंके उत्पन्न करनेके तथा पहलेके रोगोंके बढ़ानेके कारण समझना चाहिये। अभिप्राय यह है कि, विषयोंके भोगनेसे नये कर्म बँधते हैं तथा पुराने बाँधे हुए कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग (रस) बढ़ता और उन कर्मोंसे राग–द्वेष–मोहआदि रोग होते तथा बढ़ते हैं।

और जैसा पहले कहा गया है कि, "वह दरिद्री उसी कुभोजनको अच्छा मानता है, तथा अच्छे स्वादिष्ट भोजनका स्वाद तो बेचारेको स्वप्नमें भी कभी नहीं मिला है।" उसी प्रकारसे इस जीवकी चित्तवृत्ति महामोहसे ग्रसित है, इसलिये यह ऊपर कहे हुए सारे दोषोंसे दूषित धनविषयादिको अतिशय सुन्दर और अपना हितकारी मानता है और जो स्वाधीन, परलोकमें सुख देनेवाला, अपरिमित आनन्दका करनेवाला, और अतिशय कल्याणकारी, सम्यक्चारित्ररूप खीरका भोजन है, उसे यह बेचारा जिसके कि महामोहरूपी निद्रासे विवेकरूपी नेत्र बन्द हो गये हैं, कभी प्राप्त नहीं करता है।

जिसके प्रारंभका कुछ पता नहीं है, ऐसे इस संसारके परिभ्रमणमें यदि इस जीवने कभी सम्यक्चारित्र पाया होता, तो इसे सारे क्लेशोंके नष्ट करनेवाले मोक्षकी प्राप्ति अवश्य ही हुई होती, इतने समय तक संसारवनमें नहीं भटकना पड़ता। परन्तु यह तो अभीतक भ्रमण करता है। इससे निश्चय होता है कि, मेरे जीवने सम्यक्चारित्ररूप सुन्दर भोजन कभी नहीं पाया है।

और पहले कहा है कि, "वह भिखारी उस अदृष्टमूलपर्यन्त नगरके ऊंचे नीचे घरोंमें, तिराहों चौराहों तथा आंगनोंमें और नाना-प्रकारकी गलियोंमें निरन्तर विना थकावटके भ्रमण करता हुआ अनन्त वार घूमा है।" सो इस जीवके विषयमें भी वैसा ही समझना चाहिये। क्योंकि काल अनादि है, इसलिये इस जीवने भी भ्रमण करते हुए अनन्त पुद्गलपरावर्तन[1] पूर्ण कर डाले हैं (और इस वीचमें इसने ऊंचे नीचे गोत्रोंमें नाना गतियोंमें और अनेक योनियोंमें अनन्त वार भ्रमण किया है।) और जैसे वहां कहा है कि, "उस भ्रमण करते हुए दरिद्रीका उस नगरमें न जाने कितना समय वीत गया है" उसी प्रकारसे इस जीवको संसारमें भ्रमण करते हुए कितना काल वीत गया है, इसकी गिनती इन्द्रियज्ञानके गोचर नहीं है—अर्थात् वीते हुए समयकी गणना नहीं हो सकती है। काल अनादि है, इसलिये उसका माप नहीं हो सकता है।

इस प्रकारसे संसाररूप नगरमें यह मेरा भिखारीरूप जीव कुवि-कल्प कुतर्क कुतीर्थरूप उपद्रवी तथा दुर्दमनीय लड़कोंके द्वारा अपने तत्त्वोंके सन्मुख होनेवाली वृत्तिरूपी देहमें विपर्यय (मिथ्यात्व) करनेरूप ताड़नाओंसे क्षणक्षणमें चोटें खाता हुआ महामोहादिरूप रोगोंसे ग्रसित होता है और उनके कारण नरकादि पीड़ा देनेवाले स्थानोंमें वड़ी भारी पीड़ाके होनेसे स्वरूपभ्रष्ट हो जाता है। और इसलिये जिनके चित्त विवेकवुद्धिसे निर्मल हो रहे हैं, उनको इस-पर दया आती है। आगे पीछेका विचार नहीं कर सकनेके कारण

---

१ अनंतानंत पुद्गलोंको क्रमसे अनंत वार ग्रहण करना और छोड़ना इसको एक पुद्गलपरावर्तन वा द्रव्यपरावर्तन कहते हैं। जीवने ऐसे २ अनन्त परावर्तन किये हैं।

यह तत्त्वज्ञानसे बहुत दूर रहता है, इस लिये सब जीवोंसे अतिशय जघन्य अर्थात् नीचा है, और नीचा वा तुच्छ होनेके कारण धन विषयादिरूप कुभोजनकी झूठी आशाकी फांसीमें उलझा रहता है और कभी थोड़ासा भी लाभ हो जानेसे संतुष्टसा हो जाता है, परंतु फिर भी तृप्त नहीं होता है। उसके उपार्जनमें, बढ़ानेमें, और रखवाली करनेमें अपने चित्तको लगाये रहता है और उससे सघन तथा बड़ी भारी स्थितिवाले आठ प्रकारके कर्मोंका हानिकारक अपथ्य पाथेय[1] बांधता है, जिसका कि उपभोग करनेसे बढ़ते हुए रागादि रोगोंसे पीड़ित होता है। इतनेपर भी विपर्यस्तचित्त (मिथ्याती) होनेके कारण उसीको निरन्तर भोगता है और सम्यक्चारित्ररूप खीरके भोजनका स्वाद न पाकर अरहटकी (रहँटकी) घड़ियोंके समान[2] सम्पूर्ण योनियोंमें जन्म धारण कर करके अनन्त पुद्गलपरावर्तनरूप भ्रमण करता है। (अभीतक भिखारी और जीवकी समानताके विषयमें जो कुछ कहा गया है, उसका यह सारांश है।)

अब आगे इस जीवका क्या हुआ, सो कहते हैं:—

सूचना—इस कथाका सम्बन्ध भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों कालोंसे है। इसलिये इस सारे ग्रन्थमें कहनेवालेकी इच्छाके अनुसार तीनों ही कालोंका ज्ञान करानेवाले प्रत्ययोंका प्रयोग किया गया है, अर्थात् जहां जिस कालसम्बन्धी प्रत्ययकी आवश्यकता समझी गई है, वहां वही प्रत्यय प्रयुक्त किया गया है, सो उचित समझना चाहिये।

---

१ कलेवा-मुसाफिरीमें खाया जानेवाला भोजन। २ अरहट यंत्रमें जो घड़ियां लगी हुई रहती हैं, उनमेंसे जब ऊपरकी एक खाली होती है, तब नीचेकी एक भर जाती है। इसी प्रकारसे जीव एक शरीर छोड़ता है और दूसरा धारण करता है।

क्यों कि जैसे कहनेवालेकी इच्छाके अनुसार एक ही प्रकारकी वस्तुओंमें उन वस्तुओंकी स्थितिके अनुसार कारक[1] अनेक प्रकारसे प्रयोग किया जाता है, वैसे ही काल भी किया जाता है। ऐसा अनेक स्थानोंमें देखा है, और इसे व्याकरणशास्त्रके जाननेवाले भी ठीक समझते हैं। जैसे पटनाके जानेका जो रास्ता है, उसमें एक कुआ 'था' 'पहले हुआ' 'अब हुआ' 'होगा' और 'कल होगा' ये सब कालके रूप एक ही कुवाके विषयमें दिये गये हैं, परन्तु जुदी २ विविक्षासे सब ठीक हैं। इस विषयमें और अधिक कहना अनावश्यक है।

उस[2] नगरमें अपने स्वभावसे ही सब प्राणियोंपर गो-वत्स सरीखी प्रीति रखनेवाले और प्रख्यातकीर्ति जो सुस्थित नामके महाराजा बतलाये गये हैं, सो इस संसारनगरमें परमात्मा—जिनेश्वर—सर्वज्ञ भगवान्‌को समझना चाहिये। क्योंकि दुःखोंका नाश हो जानेसे, अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य प्रगट होनेसे, तथा उपमारहित स्वाधीन और अतिशय आनन्दस्वरूप होनेसे वास्तवमें वे ही सुस्थित हो सकते हैं। अज्ञान आदि क्लेशोंके वशवर्ती जो दूसरे देवआदि हैं, वे अत्यन्त दुःस्थित रहते हैं,—आकुलता सहित रहते हैं, इसलिये 'सुस्थित' नहीं हो सकते हैं। वे ही भगवान् सारे जीवोंकी रक्षा करनेका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विचारयुक्त उपदेश देते हैं, तथा प्रशंसनीय मोक्षको प्राप्त करा देनेमें तत्पर रहनेवाले शास्त्रोंकी रचना करते हैं, इसलिये स्वभावसे ही अतिशय वत्सलहृदय हैं। और वे ही सम्पूर्ण देवों तथा मनुष्योंके नायक इन्द्र और चक्रवर्ती आदिके द्वारा प्रख्यातकीर्ति

१ विविक्षानुसारेण कारकप्रवृत्तिः (सिद्धान्तकौमुदी)
२ इस कथनका सम्बन्ध पृष्ठ १८ के दूसरे पारिग्राफसे है।

हैं–अर्थात् उनकी कीर्तिका इन्द्र आदि बखान करते हैं। क्योंकि वे इन्द्र चक्रवर्ती आदि सब शुभ मन वचन कायकी क्रियामें तत्पर रहकर निरन्तर उनकी स्तुति किया करते हैं। इसीलिये सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव 'महाराज' शब्दको धारण करनेके योग्य हैं।

"एक दिन वह भिखारी घूमता घामता किसी प्रकारसे उस राजमहलके द्वारपर पहुंच गया और वहां जो 'स्वकर्मविवर' नामका द्वारपाल बैठता था, उसने कृपा करके उसे भीतर चला जाने दिया।" ऐसा जो कहा गया है, सो इस प्रकारसे योजित करना चाहिये कि:— जब यह जीव 'घर्षणघूर्णन' न्यायसे अर्थात् जिस तरह नदीमें पत्थर घिसता २ घूमता २ गोल हो जाता है, उस तरह किसी समय काललब्धि पाकर, यथाप्रवृत्तकरण (अधःप्रवृत्त नामक परिणाम) करता है, उस समय आयुकर्मके सिवाय अन्य सातों कर्मोंकी उत्कृष्ट[1] स्थिति २३० कोड़ाकोड़ी सागरमेंसे अन्तकी एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिको छोड़ कर शेष सब २२९ कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिको क्षय कर देता है। फिर उसमें से (एक कोड़ाकोड़ी सागरमेंसे) भी जब कुछ स्थिति क्षीण हो जाती है, तब यह जीव उस परमात्मा महाराजके आचारांगादि द्वादशांगपरमागमरूप मन्दिरके अथवा उस परमागमके धारण करनेवाले चतुर्विधसंघरूप मन्दिरके द्वारपर पहुंचता है। वहांपर प्रवेश करनेमें तत्पर, और अपने नामके अनुसार गुण रखनेवाला स्वकर्मविवर नामका द्वारपाल है। 'स्वकर्म'

---

१ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तरायकी तीस २ कोड़ाकोड़ी सागरकी, नाम और गोत्रकी बीस २ कोड़ाकोड़ी सागरकी और मोहनीयकी ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति है। इस तरह सब मिलाकर २३० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति है।

का अर्थ 'अपने कर्म' होता है और 'विवर'का 'विच्छेद' वा 'नाश' होता है। अतएव अपने कर्मोंका विच्छेद ही उस मन्दिरके भीतर जाने देनेवाला यथार्थ द्वारपाल हो सकता है। यद्यपि उस मन्दिरके द्वारपर राग द्वेष मोह आदि और भी बहुतसे द्वारपाल रहते हैं, परन्तु वे सब इस जीवके रोकनेवाले ही हैं, प्रवेश करानेवाले नहीं हैं। उस द्वारपर यह जीव अनन्त बार पहुंचा है, परन्तु उन्होंने इसे बराबर रोका है, कभी भीतर नहीं जाने दिया है। यद्यपि कभी २ वे राग द्वेष मोह आदि द्वारपाल भी जीवको भीतर जाने देते हैं, परन्तु उनके द्वारा भीतर पहुंचा हुआ जीव यथार्थमें पहुंचा हुआ नहीं हो सकता है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि यद्यपि राग द्वेष मोह आदिसे व्याकुल रहनेवाले अनेक जीव कभी २ यति श्रावक आदिके चिह्नोंको धारण कर लेते हैं, परन्तु वास्तवमें उन्हें सर्वज्ञशासन मन्दिरसे वहिर्भूत ही समझना चाहिये। अर्थात् यति श्रावक होकर भी वे मोक्षमार्गको नहीं पा सकते हैं। इसके पश्चात् स्वकर्मविवर द्वारपाल उस राजमहलकी भूमितक पहुंचे हुए जीवको ग्रन्थिभेद कराके अर्थात् मिथ्यात्वको छुड़ाकर सर्वज्ञशासनरूप मन्दिरमें प्रवेश कराता है, इस प्रकारसे युक्त समझना चाहिये।

आगे "भिखारीने उस अदृष्टपूर्व (जैसा पहले कभी नहीं देखा था), अनन्तविभूतिसम्पन्न, राजाओं मंत्रियों कामदारों कोटपालों वृद्धा स्त्रियों और सुभटोंसे भरे हुए, विलास करती हुई विलासिनी स्त्रियोंसे युक्त, उपमारहित शब्दगंधादि विषयोंके भोगनेसे सुन्दर और निरन्तर उत्सवमय राजभवनको देखा" ऐसा कहा है। उसी प्रकारसे यह जीव भी इस संसारनगरमें वज्रके समान दुर्भेद्य और जो पहले कभी छूटी नहीं थी, ऐसी कर्मोंकी क्लिष्ट ग्रन्थिको अ-

र्थात् मिथ्यात्वमोहनीय कर्मकी गांठको खोलता है और इसे स्वकर्म-विवर द्वारपाल सर्वज्ञशासनरूपी मन्दिरमें प्रवेश करता है। और तब यह ऊपर कहे हुए सम्पूर्ण विशेषणोंसे युक्त राजमन्दिरको देखता है। अब पहले कहे हुए राजभवनके सब विशेषणोंको सर्वज्ञशासन-रूपी मंदिरमें घटित करते हैं:—

इस मौनींद्र शासनमें अर्थात् मुनिप्रणीत जैनधर्ममें अज्ञान अंध-कारके पटलोंको दूर करनेवाला, नानाप्रकारके रत्नोंकी आकृतियोंका धारण करनेवाला, और अपने शोभनीक निर्मल प्रकाशसे तीनों लोक-रूपी भवनको प्रकाशित करनेवाला 'केवलज्ञान' दिखलाई देता है। और इस भगवत्प्रणीत प्रवचनमें आमर्ष, औषधि, आशीविष, आदि अनेक ऋद्धियां जिन्हें कि वे प्राप्त होतीं हैं, उन महामुनियोंके शरीरको शोभित करतीं हैं, इसलिये मनोहर मणियोंसे रचे हुए आ-भूषणोंकी निर्मलताको धारण करती हुई शोभायमान होती हैं। तथा इस जिनमतमें विचित्र २ प्रकारके बहुतसे वस्त्रों सरीखे बहुत प्रकारके तप अपनी अतिशय सुंदरताके कारण सुजनोंके हृदय अपनी ओर खींचते हैं। तथा इस परमेश्वरप्रणीत शासनमें उज्वल वस्त्रोंके चँदोवोंमें लटकी हुई मोतियोंकी चंचल झालरके रूपको धारण करनेवाले चारित्रके कारणरूप [1]मूलगुण और उत्तरगुण अतिशय आनन्दको उत्पन्न करते हैं। क्योंकि जिसप्रकार रचनासौंदर्यके योगसे अर्थात् सुंदररचनाके कारण मोतियोंकी झालरें चित्तको प्रसन्न करती हैं, उसी प्रकारसे रचनासौंदर्ययोगसे अर्थात् मन वचन कायकी शुभ प्रवृत्तिसे मूलगुण और उत्तरगुण आनंदित करते हैं।

ऐसे जैनदर्शनमें रहनेवाले भाग्यशाली प्राणियोंके मुखकी शो-भाको, सुंगधिकी अधिकताको, और चित्तके अतिशय आनन्दको

---

1 मुनियोंके २८ मूलगुण और ८४ लाख उत्तरगुण होते हैं।

उत्पन्न करनेवाला 'सत्यवचन' उत्तम ताम्बूलके (पानके) समान है। तथा इस भगवतके मतमें मुनिरूपी भौंरोंको प्रसन्न करनेके कारण तथा विचित्र प्रकारके भक्तिविन्याससे (रचनासे) गूंथे हुए होनेके कारण जो मनोहर फूलोंके हारोंके आकारको धारण करते हैं, ऐसे शीलके अठारह हजार अंग अपनी सुगंधिकी अधिकतासे दशों दिशाओंको व्याप्त करते हैं। तथा इस परमेश्वरके मतमें गोशीर चन्दन आदि विलेपनोंके स्वरूपको धारण करनेवाला सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व और कषायोंके संतापसे तप्त हुए भव्य जीवोंके शरीरोंको शान्त करता है। क्योंकि इस मतमें जो कि सर्वज्ञका कहा हुआ है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न जिसमें प्रधान हैं; जो जीव रहते हैं उन महाभाग्यशालियोंने नरकरूप अन्धकूपको ढँक दिया हैं, तिर्यंचगतिरूपी बन्दीगृहको (जैलको) तोड़ डाला है, कुमानुषगतिके (कुभोग भूमिके मनुष्योंके) दुःखोंको नष्ट कर दिया है, कुदेवोंकी पर्यायमें जो मानसिक दुःख होते हैं, उनका मर्दन कर डाला है, मिथ्यात्वरूपी वेतालका (प्रेतका) प्रलय कर दिया है, रागादि शत्रुओंको गतिहीन कर दिया है, कर्मोंके अजीर्णको प्रायः पचा डाला है, वृद्धावस्थाके विकारोंको विनाश कर दिया है, मृत्युके भयको नष्ट कर डाला है, और स्वर्ग तथा मोक्षके सुखोंको हस्तगत कर लिया है। अथवा उन भगवानके मतमें रहनेवाले जीवोंने सांसारिक सुखोंका तिरस्कार किया है, संसारका सारा प्रपंच हेयबुद्धिसे (त्यागभावसे) ग्रहण किया है। अर्थात् प्रपंच तो है, परन्तु उसमें प्रीतिभाव नहीं है। अपने अन्तःकरणको मोक्षके ध्यानमें ही एकतान (लवलीन) कर रक्खा है और उन्हें परमपदके (मोक्षके) पानेमें कुछ भी शंका नहीं रही है। क्योंकि वे जानते हैं कि, उपाय उपेयव्यभिचारी नहीं होता है। अर्थात् जिसके लिये प्रयत्न

किया जाता है, उसको अवश्य ही मिला देता है। तथा वह उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकतारूप है जो कि परमपदके (मोक्षके) पानेका अन्वर्थ वा अचूक उपाय है और वह हमको मिल गया है। इसके सिवाय इस उपायका लाभ हो जानेपर उन्हें निश्चय हो गया है कि, इसे छोड़कर संसारमें दूसरी कोई भी वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं है, और ऐसा जानकर उनका चित्त अतिशय संतुष्ट हो गया है। उन्हें और कुछ भी इच्छा नहीं रही है।

अतएव उन परमेश्वरके मतमें रहनेवाले जीवोंको शोक नहीं होता है, दीनता नहीं होती है, उत्सुकताका लय हो जाता है, रतिका विकार नष्ट हो जाता है, जुगुप्सा जुगुप्साके (घृणाके) योग्य हो जाती है, चित्तमें उद्वेग नहीं होता है, तृष्णा बिलकुल अलग हो जाती है, और भयका जड़से क्षय हो जाता है। तब उनके मनमें क्या रहता है? धीरता रहती है, गंभीरता निवास करती है, उदारता बहुत बलवती हो जाती है, और उत्कृष्ट स्थिरता होती है। इसके सिवाय स्वाभाविक प्रशम (शान्ति) सुखरूपी अमृतके निरन्तर आस्वादन करनेसे जिनका चित्त आनन्दित रहता है, ऐसे वे जीव प्रबल रागकी कलाओंसे (भेदोंसे) रहित हैं, तो भी उनके हृदयमें रति (शुभराग) अतिशय करके बढ़ती है, मदरूपी[1] रोग नष्ट हो गये हैं, तो भी उनके चित्तमें हर्ष रहता है, समवासी चन्दनके सदृश हैं, तो भी उनके आनन्दका विच्छेद नहीं होता है।

---

१ मद शब्दका अर्थ हर्ष भी होता है। इसलिये यहांपर विरोध दिखलाया है कि, मदरहित (गर्वरहित) होकर भी मदसहित (हर्षसहित) हैं। २ चन्दनके समवासी अर्थात् पास रहनेवाले वृक्ष काट डाले जाते हैं। परन्तु यहां विरोध बतलाया है कि, समवासीचन्दन (चन्दनसदृश सुगंधित) होकर भी उन्हें कष्ट नहीं होता है। (विरोधाभास अलंकार)।

और जिनेन्द्रके शासनमें रहनेवाले भव्यजीव स्वाभाविक हर्षकी अधिकतासे प्रसन्न रहते हैं, इसलिये क्षण क्षणमें पांच प्रकारका स्वाध्याय करनेरूप गाना गाते हैं, आचार्यादिकोंका दश प्रकार[१] वैयावृत्य करनेरूप नृत्य करते हैं, जिनेन्द्रदेवके जन्माभिषेक, समवसरण, पूजन, यात्रा आदि शुभकार्य करनेरूप नाच कूद करते हैं, परधर्मके वादियोंके जीतनेमें पटुता दिखलाते हुए चित्तको आनन्दित करनेवाली सिंहनाद सरीखी गर्जना करते हैं, और किसी २ समय जिनभगवानके गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण इन पांचों महा कल्याणकोंके प्रसंगपर आनन्दकारी मर्दल आदि वाजित्र बजाते हैं। यह मुनीन्द्रोंका शासन जो कि निरन्तर आनन्दमय और सारे संतापोंसे रहित है, इस जीवको उत्तम भावपूर्वक पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है। यह बात इसके संसारभ्रमणके सद्भावसे ही अच्छी तरहसे निश्चित होती है। यदि सर्वज्ञ शासनकी प्राप्ति हुई होती, तो इसे संसारमें नहीं भटकना पड़ता। और अच्छे परिणामपूर्वक यदि जिनशासनकी प्राप्ति हुई होती, तो इसका पहले ही मोक्ष हो जाता।

पूर्वोक्त कथामें जिस राजभवनका वर्णन किया गया है, उसके पहले दो विशेषण कहे गये हैं। उनमेंसे एक तो यह कि, वह अदृष्टपूर्व और अनन्तविभूतिसम्पन्न है, सो इस सर्वज्ञशासनरूप मन्दिरमें घटित करके दिखला दिया गया। अब जो दूसरा विशेषण यह है कि, वह राजभवन राजा, मंत्री, सुभट, नियुक्तक, कोटपाल आदि लोगोंसे भरा हुआ है, सो उसको इस प्रकारसे घटित करना चाहिये:—

भगवानके शासनमन्दिरमें राजाओंके स्थानमें आचार्य समझना चाहिये। क्योंकि अन्तरंगमें जलते हुए महातपके तेजसे उनके राग-

---

१ आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके साधुओंकी सेवा करना दशप्रकारका वैयावृत्य है।

दिक शत्रु जल गये हैं और बाहिरी सब क्रियाएं शान्त हो जानेसे वे संसारको आनन्दित करनेवाले हैं तथा गुणरूपी रत्नोंसे भरे हुए लोकमें स्वामीपनकी योग्यता रखते हैं अर्थात् सबसे अधिक गुणी हैं, इसलिये उपमारहित 'राजा' शब्दके वाच्य हैं वा राजा कहलानेके योग्य हैं। और मंत्रियोंके स्थानमें उपाध्यायोंको जानना चाहिये। क्योंकि वे वीतराग भगवानके आगमोंका सार जानते हैं, इसलिये संसारके सारे व्यापारोंको साक्षात्के समान देखते हैं, बुद्धिसे रागादि वैरियोंके समूहको पहिचानते हैं, और रहस्यके (प्रायश्चित्तके) ग्रन्थोंमें भलीभाँति कुशल हैं, इसलिये उन्हें समस्त नीतिशास्त्रके ज्ञाता कहते हैं। और वे ही अपने सुबुद्धिरूपी धनसे सारे संसारको तौलते हैं, इसलिये सब प्रकारसे 'अमात्य' शब्दकी योग्यताको धारण करते हुए शोभते हैं।

कथाके राजभवनमें जो महायोधा कहे गये हैं, वे यहां गीतार्थ वृषभ हैं। क्योंकि चित्तमें सत्वभावनाकी भावना करते रहनेसे अर्थात् यह विचार करते रहनेसे कि जीवका कभी घात नहीं होता है, वह अजर अमर है; वे न देव आदिकोंके किये हुए उपसर्गोंमें चलायमान होते हैं न क्षुभित होते हैं, और न घोर परीषहोंसे डरते हैं। और तो क्या यदि यमराज सरीखे भयंकर उपद्रव करनेवालेको सम्मुख देखें, तो भी वे लवलेश भी नहीं डरते हैं। और द्रव्य क्षेत्र, कालके अनुसार चलनेवाले गच्छों कुलों गणों और संघोंको परम्पराचारित्रके द्वारा मोक्ष प्राप्त करानेवाले हैं, इसलिये उन्हें महायोधा कहते हैं।

नियुक्तक अर्थात् कामदार यहां गणचिन्तकोंको समझना चाहिये। क्योंकि वे बालक, वृद्ध, रोगी, तथा अतिथि आदि अशक्त और पालन करने योग्य अनेक मुनियोंसे घिरे हुए रहते हैं, कुल गण

और संघस्वरूप होते हैं, अर्थात् कुलके गणके और संघके जुदे २ गणचिन्तक होते हैं, करोड़ों नगर और असंख्य ग्राम तथा खानि स्वरूप गच्छोंकी गीतार्थपनेसे उत्सर्ग तथा अपवाद मार्गकी स्थानयोजना करनेमें निपुण होते हैं, अर्थात् वे शास्त्रोंका मर्म भलीभांति जानते हैं, इसलिये किसीको उत्सर्ग मार्गमें और किसीको अपवाद मार्गमें लगा देते हैं और उन्हें प्रासुक तथा दोषरहित आहार, पानी, औषध, उपकरण (पिछी कमंडलु पुस्तक) उपाश्रय (वस्तिका) आदि सम्पादन कराके स्वयं निरन्तर निराकुल रहते हुए सबका पालन करनेमें समर्थ होते हैं। इन्हें सब प्रकारसे योग्य वा अनुकूल समझकर आचार्य महात्मा नियुक्त करते हैं, इसलिये ये ही नियुक्तक (कामदार) नामधारण करनेके योग्य हैं।

जिनशासनरूपी महलमें तलवर्गिक अर्थात् कोटपालोंके स्थानमें सामान्यभिक्षुकोंके (सर्वसाधुओंको) समझना चाहिये। क्योंकि वे आचार्योंकी आज्ञाका ध्यान देकर पालन करते हैं, उपाध्यायोंकी आज्ञा मानते हैं, गीतार्थ मुनियोंकी विनय करते हैं, गणचिन्तकोंकी बाँधी हुई सीमाका उल्लंघन नहीं करते हैं, गच्छ, कुल, गण, और संघके कार्योंमें आपको लगाते हैं और यदि गच्छ कुल आदिपर कोई अकल्याण करनेवाली विपत्ति आ पड़ती है, तो अपना जीवन देकर भी उनकी रक्षा करते हैं। इसलिये वे शूरता, भक्तता, विनीतता, नम्रता, आदि स्वभावोंसे कोटपाल नामके सर्वथा योग्य हैं।

इस प्रकारसे जो जिनशासनमन्दिर राजमंदिरके समान कहा गया है, आचार्य उसको अपनी आज्ञामें रखते हैं, उपाध्याय उसकी चिन्ता करते हैं, गीतार्थवृषभ रक्षा करते हैं, गणचिन्तक सब ओरसे पुष्टि करते हैं, और सामान्यसाधु निश्चिन्त होकर उसके सब कार्य करते हैं। अतएव इसे इन आचार्यादिकोंसे व्याप्त समझना चाहिये।

आगे राजमंदिरमें जो स्थविरा अर्थात् वृद्धास्त्रियां कही गई हैं, उन्हें जिनेन्द्रशासनमंदिरकी आर्याएं (अर्जिकाएँ) समझना चाहिये। पहले राजमंदिरकी स्थविराओंको उन्मत्त स्त्रियोंके निवारण करनेमें तत्पर और विषयवासनाओंसे रहित बतलाई हैं, सो उनके ये दोनों अनुपम गुण आर्यिकाओंमें भी घटित होते हैं। क्योंकि वे प्रमादके कारण विवश होकर धर्मकार्योंमें शिथिल रहनेवाली श्रावकोंकी स्त्रियोंको और अपनी शिष्याओंको अपने परोपकार करनेके व्यसनके कारण जो कि उन्हें हमेशासे पड़ा हुआ है भगवानके आगममें कहे हुए और महानिर्जराके करनेवाले सधर्मिवात्सल्यकी पालना करती हुई स्मारण (याद दिलाकर), वारण (रोककर), प्रेरण (कहकरके) और प्रतिप्रेरण (बार २ कहके) इन चार द्वारोंसे कुमार्गमें जानेसे बचाती हैं। और विषयरूपी विषके सेवन करनेका परिणाम कैसा बुरा होता है यह जानती हैं; इस लिये उन विषयोंसे चित्तको हटाकर संयममें रमण करती हैं, अनेक प्रकारके तपोंके साथ क्रीड़ा करती हैं, निरंतर स्वाध्याय करनेमें प्रसन्न रहती हैं, प्रमादोंका सेवन नहीं करती हैं और किसी प्रकारकी शंका किये विना आचार्योंकी आज्ञाका पालन करती हैं।

तथा पहले कहा है कि, "राजभवन सुभटोंसे खचाखच भर रहा है।" सो यहांपर भगवानके शासनभवनमें श्रावकोंको सुभटसमूह समझना चाहिये। क्योंकि एक तो वे बहुत ज्यादा हैं, इसलिये सारे शासनमंदिरको व्याप्त किये रहते हैं। कारण देवोंमें असंख्यात, मनुष्योंमें संख्यात, तिर्यञ्चोंमें अनेक, और नरकोंमें बहुतसे श्रावक हैं। और दूसरे वे अपनी शूरता, उदारता, और गंभीरता आदि गुणोंसे जैनशासनके शत्रु मिथ्यातीजीवरूप योद्धाओंको पराजित

करनेमें चतुर होते हैं; अतएव इस अनुपम प्रवृत्तिके कारण वे सुभट शब्दके योग्य हैं। वे निरंतर सर्वज्ञ महाराजका ध्यान करते हैं, आचार्यरूप राजाओंकी आराधना करते हैं, उपाध्यायरूप मंत्रियोंके उपेदशके अनुसार चलते हैं, गीतार्थवृषभरूप महायोधाओंके वचनोंको मानकर सम्पूर्ण धर्म कार्योंमें प्रवृत्ति करते हैं, अपने आत्मापर अनुग्रह करनेकी बुद्धिसे उन गणाचिन्तकोंको जो कि साधुओंका उपकार करनेमें लगे रहते है, और इस कारण जिन्हें नियुक्तकोंका (कामदारोंका) स्थान मिला है; वस्त्र, पात्र, भोजन, पानी, औषधि, आसन, साँथरा, वसतिका आदि निरन्तर विधिपूर्वक दिया करते हैं, तलवर्गिकोंके (कोटपालके) समान सम्पूर्ण ही सामान्य साधुओंको इसका विचार किये विना कि, कौन कबका दीक्षित है शुद्ध मन वचन कायसे नमस्कार करते हैं, स्थविराओंके समान आर्यिकाओंकी भक्तिपूर्ण हृदयसे वन्दना करते हैं, विलासिनी स्त्रियोंके समान बतलाई हुई श्राविकाओंको सारे धर्म कार्योंमें उत्साहित करते हैं, और भगवानका जन्माभिषेक, नन्दीश्वरद्वीपकी यात्रा, और मर्त्यलोक (ढाईद्वीप) सम्बन्धी दशलक्षण आदि पर्वोंकी यात्रारूप नित्य नैमित्तक कार्य भगवानके शासनरूप मन्दिरमें निरन्तर करते हैं। अधिक कहनेसे क्या! वे सर्वज्ञ भगवानके शासनको छोड़कर वास्तवमें न दूसरा कुछ देखते हैं, न सुनते हैं, न जानते हैं, न श्रद्धान करते हैं, न उन्हें अन्य कुछ रुचता है, और न वे अन्य किसीकी पालना करते हैं। केवल जैनशासनको ही कल्याणकारी मानते हैं। अतिशय भक्तिके कारण वे सर्वज्ञ महाराज तथा आचार्य महाराज आदिको बहुत प्यारे लगते हैं और इस लिये उन्हें उसी मन्दिरमें निवास करनेवाले विनयवान् तथा बड़ीभारी ऋद्धिके धारण करनेवाले एक बड़ेभारी कुटुम्बके समान समझना चाहिये। अन्य धर्मियोंका तो उस भवनमें निवास ही कहांसे हो सकता है?

और जैसे उस राजमंदिरमें विलासिनी स्त्रियां कही हैं, वैसे इस मुनिप्रणीत जिनशासनमें सम्यग्दर्शन धारण करनेमें अणुव्रतोंके[1] पालन करनेमें और जैन साधुओंकी भक्ति करनेमें तत्पर रहनेके कारण श्राविकाओंको विलासिनी स्त्रियां समझना चाहिये। श्रावकोंके समान ये श्राविकाएं भी सर्वज्ञ महाराजादिकी आराधनामें तत्पर रहती हैं, निरन्तर ज्ञानका अभ्यास करती हैं, सम्यग्दर्शनसे आत्माको अतिशय दृढ़ करती हैं, अणुव्रत धारण करती हैं, गुणव्रत[2] ग्रहण करती हैं, शिक्षाव्रतोंका[3] अभ्यास करती हैं, अनेक प्रकारके तप करती हैं, जैनग्रन्थोंका स्वाध्याय करनेमें लवलीन रहती हैं, साधुओंको अपनी भलाई करनेवाला आहारदान देती हैं, गुरुओंके चरणोंकी वन्दना करके हर्षित होती हैं, अच्छे साधुओंको नमस्कार करके संतुष्ट होती हैं, साध्वियोंकी कही हुई धर्मकथाएं सुनकर प्रसन्न होती हैं, अपने सधर्मी जनोंको अपने भाई बंधुओंसे भी अधिक समझती हैं, जिस देशमें सधर्मी जन नहीं रहते हैं, वहां रहनेसे उदास रहती हैं, अतिथियों वा साधुओंको भोजन कराये विना भोजन करनेसे प्रसन्न नहीं होती हैं और जिनेश्वर भगवानका धर्मसेवन करनेसे अपने आत्माको संसारसमुद्रसे प्रायः पार हुआ ही समझती हैं। अतएव उस जिनशासनरूपी मन्दिरके भीतर पूजा करनेवाले राजसेवकोंके समान ये श्राविकाएं पहले कहे हुए श्रावकोंके साथ प्रतिबद्ध[4] होकर अथवा उनसे पृथक्[5] होकर निवास करती हैं। और यदि कभी कोई स्त्रियां ऊपर कहे हुए गुणोंके विना ही उक्त शासनमंदिरके

---

१ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। २ दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत। ३ सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग। ४ श्रावकोंकी स्त्रियां होकर पत्नी अवस्थामें। ५ कुमारी अथवा विधवा अवस्थामें।

भीतर बैठी हुई दिखलाई देवें, तो उन्हें वास्तवमें भीतर न समझकर बाहिर ही समझना चाहिये। क्योंकि यह भगवत्प्रणीत शासनमन्दिर भावसे ही प्राप्त हो सकता है। इसमें बाहिरी छाया मात्रसे प्रविष्ट हुआ जीव वास्तवमें प्रविष्ट हुआ नहीं कहला सकता है। अभिप्राय यह है कि, जैनियों सरीखी बाहिरी क्रियाएं करनेसे कोई सच्चा जैनी नहीं हो सकता है। जैनी होनेके लिये श्रद्धानरूप उत्तम भाव होना चाहिये।

और जिस प्रकार उस राजभवनको उपमारहित शब्द स्पर्शादि विषयोंके भोगनेसे सुन्दर बतलाया है, उसी प्रकारसे इसको भी जानना चाहिये। जितने इन्द्र हैं, वे सब इस मन्दिरके भीतर हैं। और जो बड़ी २ ऋद्धिके धारण करनेवाले बड़े २ देव हैं, वे भी जिनशासनमंदिरसे बाहिर नहीं हो सकते हैं। ऐसी अवस्थामें जब कि बड़े २ इन्द्र और ऋद्धिधारी देव इस मन्दिरमें रहते हैं, तब इसमें उपमारहित शब्दादि विषयोंके भोगोंकी सुन्दरता होना असंभव नहीं है। इस कथनसे यह बात विशेष सम लेना चाहिये कि, जितने भोग हैं, वे सब पुण्यके उदयसे प्राप्त होते हैं। और वह पुण्य दो प्रकारका है, एक पुण्यानुबन्धी और दूसरा पापानुबन्धी। उनमेंसे जो शब्दादि उपभोग पुण्यानुबन्धी पुण्यके उदयसे प्राप्त होते हैं, वे तो उपमारहित कहला सकते हैं, क्योंकि अच्छी तरहसे संस्कृत (संस्कार किये हुए) तथा मनोहर पथ्य भोजनके समान उनका परिपाक वा परिणाम अच्छा होता है। और उनके भोगनेसे परिणाम विशेष उज्वल होते हैं, तथा ऐसे सुंदर परिणामोंवाला जीव उनमें प्रीति नहीं करता है, बल्कि उनको भोगते हुए भी विशेष रागभाव न होनेके कारण पूर्वमें बांधे हुए

पापपरमाणुओंके संचयको तो शिथिल करता है और पुण्यपरमाणुओंको बहुत ही अच्छे फल देनेवाले नये विपाकसे युक्त करता है अर्थात् उन परमाणुओंकी शुभविपाकरूप अनुभागशक्तिको बढ़ा देता है। ये परमाणु जब उदयमें आते हैं, तब संसारसे विरक्त करते हैं, और उससे (विरक्ततासे) नानाप्रकारके सुख तथा अन्तमें मोक्ष प्राप्त करा देते हैं। इसी लिये उन पुण्यानुबन्धी भोगोंको सुन्दर विपाकवाले कहे हैं। और जो शब्दादि विषय पापानुबन्धिपुण्यके उदयसे प्राप्त होते हैं, वे तत्काल ही प्राण ले लेनेवाले लड्डूकी तरह परिणाममें भयंकर होते हैं, इसलिये उन्हें यथार्थमें भोग ही नहीं कह सकते हैं। क्योंकि वे मरुभूमिके (मारवाड़के) मृगजलकी तरंगोंके समान उनके पीनेकी इच्छासे दौड़नेवाले पुरुषोंके श्रमको विफल करते हैं और इसलिये और भी अधिक प्यासको बढ़ाते हैं, परन्तु प्राप्त नहीं होते हैं। और यदि किसी तरहसे प्राप्त हो जाते हैं, तो परिणामोंको कषायोंसे मलिन करते हैं, और तब वह ओछे अभिप्रायवाला पुरुष अन्धा होकर उनमें बहुत ही अधिक प्रीति करता है। फिर जब कुछ दिन तक ठहरनेवाले उन भोगोंको भोग लेता है, तब उन (भोगोंके) प्राप्त करानेवाले पहले बाँधे हुए थोड़ेसे पुण्य परमाणुओंको भी खिरा देता है और अतिशय तीव्र तथा गुरुतर पापोंको बाँधता है। पीछे जब वे पापकर्म उदयमें आते हैं, तब वह जीव अनन्त दुःखरूपी जलचारी जीवोंसे भरे हुए संसारसमुद्रमें अनन्त कालतक परिभ्रमण करता है। इसीलिये जो शब्दादि विषय पापानुबन्धिपुण्यके उदयसे प्राप्त होते हैं, उन्हें दारुणपरिणामी कहा है। अर्थात् उनका फल भयानक है।

संसारी जीवोंके जो सुन्दर परिणामवाले अर्थात् पुण्यानुबन्धीपुण्यसे उत्पन्न हुए शब्दादि विषय हैं, वे ऊपर कहे हुए न्यायसे

अर्थात् परम्परारूपसे मोक्षके कारण हैं, इसलिये भगवानके शासनमन्दिरसे बाहिर नहीं हैं, अर्थात् वे भी जिनशासनमें प्राप्त होते हैं, ऐसा नियम है। इसलिये दूसरे बुद्धिमान् जीवोंको भी मोक्षके प्राप्त करा देनेवाले इस भगवच्छासनमन्दिरमें भावपूर्वक अवश्य ही रहना चाहिये। अभिप्राय यह है कि इस मन्दिरमें रहनेवालोंको तो वे सुंदर भोगादिक अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि उन भोगोंका प्राप्त करानेवाला और दूसरा कोई कारण नहीं है अर्थात् जिन कारणोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, उन्हींसे सुंदर भोगादि भी प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जैनशासनमंदिर अविनाशी सुखोंका कारण है, इसलिये इसे निरन्तर उत्सवमय कहा है। और पूर्वकथामें कहे हुए भिखारीने जिस प्रकार अनेक विशेषणोंवाले राजमंदिरको देखा था, उसी प्रकारसे यह जीव भी वैसे ही विशेषणोंसे युक्त सर्वज्ञशासनरूप मंदिरको देखता है।

आगे पूर्वकथामें कहा है कि, "वह[1] निष्पुण्यक भिखारी उस सदा आनन्दसे पूर्ण रहनेवाले राजमन्दिरको देखकर 'यह क्या है?' इस प्रकार आश्चर्ययुक्त होकर विचार करने लगा। परन्तु उन्मादके कारण उसे उस राजमन्दिरके विशेष गुण यथार्थमें विदित नहीं हुए।" उसी प्रकारसे यह जीव अपने कर्मोंका विच्छेद होनेपर किसी प्रकारसे जिनशासनके समीप आता है और 'यह क्या है?' इस तरह जिज्ञासा करता है। परन्तु उस अवस्थामें उन्मादके समान मिथ्यात्वकर्मपरमाणुओंके कारण यथार्थमें इस जिनमतके विशेष गुणोंको नहीं जानता है। और कथामें जो आगे कहा है कि, "उस भिक्षुकको जब कारणवश कुछ चेतना हुई, तब उसके जीमें यह बात आई कि, इस सकल आश्चर्योंके स्थानभूत राजमन्दिरको इस स्वकर्म-

१ इसका सम्बन्ध पृष्ठ २० के पहले पारिग्राफके साथमें है।

विवर द्वारपालके प्रसादसे मैं आज ही देखता हूं। मुझे ऐसा लगता है कि, मैंने इसे पहले कभी नहीं देखा है। यद्यपि मैं इसके द्वारतक पहले कई बार आ चुका हूं, परन्तु मेरे मन्दभाग्यके कारण यहांके जो दूसरे पापी द्वारपाल हैं, उन्होंने मुझे तिरस्कार करके बारंबार निकाल दिया है—कभी भीतर नहीं आने दिया है।" सो सब मेरे इस जीवके विषयमें बराबर घटित होता है। यथाः—

निकटभव्य अर्थात् ऐसे जीव जिनका कि कल्याण शीघ्र होनेवाला होता है जब किसी तरहसे जैनशासनको प्राप्त करते हैं, तब यद्यपि उसके (जैनशासनके) विशेष गुण उन्हें मालूम नहीं होते हैं, तो भी मार्गके अनुयायी होनेके कारण उनके ऐसे परिणाम होते हैं कि, यह अर्हद्दर्शन (अरहंतदेवका धर्म) बड़ा ही अद्भुत है। क्योंकि जो लोग इसमें रहते हैं अर्थात् इसके अनुयायी होते हैं, वे सब ही मित्रोंके समान, बन्धुओंके समान, एकप्रयोजन वालोंके समान, एक दूसरेको सौंपे हुए हृदयवालोंके समान, और दो शरीर एक आत्मावालोंके समान परस्पर वर्ताव करते हैं और ये सब अमृततृप्त हैं, तो भी इन्हें किसी प्रकारका भय नहीं है, इनके हृदयमें उत्सुकता (लालसा) नहीं है, तो भी उत्साहकी कमी नहीं है, इनकी सब इच्छाएं पूर्ण हो गई हैं, तो भी जीवोंकी भलाई करनेके लिये ये सदा ही उद्यत रहते हैं*। और यह सुन्दर शासनमन्दिर मुझे आज मालूम हुआ है। क्योंकि पहले कभी इसका विचार ही नहीं

---

* यहां जिनशासनमन्दिरका अद्भुतपना विरोधाभास अलंकारमें दिखलाया है कि, जो अमृततृप्त हैं अर्थात् नहीं मरनेसे सुखी हैं, वे भयरहित नहीं हो सकते हैं, जो उत्सुकतारहित हैं, वे उत्साही नहीं हो सकते हैं, और जिनकी इच्छाएं पूर्ण हो गई है, वे जीवोंकी भलाई करनेमें उद्यत नहीं हो सकते हैं।

किया था। यह जीव ग्रन्थिप्रदेशके (मिथ्यात्त्वका उपशम करनेके) समीप पहले अनन्त बार आया है, परन्तु उस मिथ्यात्वरूपी गांठका भेद करके इसने किसी भी समय सर्वज्ञशासनमन्दिरका अवलोकन (सम्यक्त्वप्राप्ति) नहीं किया है। क्योंकि राग द्वेष मोह आदि क्रूर द्वारपालोंने इसे वारंवार निकालकर अलग कर दिया है। और इस कारण इसने बाहरहीसे मन्दिरके कुछ अंशको देखा है। परन्तु उस अवस्थामें इसने मन्दिरके इस भागको जहां कि सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है न कभी जाना है, और न कभी विचार किया है।

आगे उस भिखारीको पर्यालोचना करनेसे ऐसा विचार हुआ था कि, "मैं सचमुच ही निष्पुण्यक (पुण्यरहित) हूं, जो पहले कभी इस नेत्रोंको आनन्दित करनेवाले राजमन्दिरको नहीं देख सका और न इसके देखनेके लिये मैंने पहले कभी कोई उपाय किया। और तो क्या मुझ अभागीने यह जाननेकी भी कभी इच्छा नहीं कि, यह राजमहल कैसा है ? यह द्वारपाल मेरा परमबन्धु है, जिसने दयाभावसे मुझ भाग्यहीनको भी यह दिखला दिया। ये लोग अतिशय धन्य हैं, जो इस राजमन्दिरमें सब प्रकारके कष्टोंसे रहित और प्रसन्न चित्त होकर रहते हैं।" सो यह सब मेरे जीवके विषयमें इस प्रकारसे योजित करना चाहिये कि:—शुभध्यानके कारण जब जीवके परिणाम विशुद्ध हो जाते हैं, तब इसके चित्तमें सर्वज्ञशासनमन्दिरसम्बन्धी ऊपर कहे हुए सब विचार होते हैं। अथवा जब किसी अवसरपर भगवानके समवसरणका दर्शन करनेसे, अथवा जिनेंद्रदेवका अभिषेकोत्सव देखनेसे, अथवा वीतराग भगवानकी मूर्तिका निरीक्षण करनेसे, अथवा शांत स्वभाववाले तपस्वियोंके साक्षात्कारसे, अथवा अच्छे श्रावकोंकी संगतिसे; अथवा उनके अनुष्ठानोंका अवलोकन करनेसे मिथ्यात्व

शिथिल होता है और इसके परिणाम कोमल हो जाते हैं, तब भी उक्त विचार होते हैं। शासनमंदिरसम्बंधी विचार करनेमें प्रीति भी इसे उसी समय होती है। उस समय यह इस बातका खेद करता है कि, मैंने शासनमंदिरसम्बंधी विचार पहले क्यों नहीं किया? फिर जिनमार्गके उपदेशकोंका आश्रय लेता है, और जैनधर्ममें जिनका चित्त लवलीन रहता है, ऐसे दूसरे लोगोंका उनको अच्छा समझकर बहुत सत्कार करता है। यह सब कथन जो लघुकर्मी जीव (निकटसंसारी) सन्मार्गके समीपवर्ती होते हैं, चाहे उन्होंने मिथ्यात्व कर्मग्रंथिका भेद किया हो, चाहे न किया हो, सम्यग्दर्शन जिनके आगे (समीप) रहता है, और कुछ कालतक जो भद्रकभावसे (निकटभव्यपनेसे) रहते हैं, उनके सम्बंधमें किया गया है। अभिप्राय यह है कि, प्राप्त होनेकी तयारीमें जीवकी ऐसी दशा होती है और उस समय उसके मनमें ऊपर कहे हुए विचार उठते हैं।

तदनन्तर परमेश्वरकी सकल कल्याणकी प्राप्ति करनेवाली दृष्टिमें आनेपर इस जीवका जो वृत्तान्त होता है, वह पहले कहा जा चुका है। उसका सार यह है कि, "पूर्व कथामें कहा हुआ भिखारी सचेत होकर जिस समय ऊपर कहे हुए विचार करता था, उसी समय महाराजने उसकी ओर दृष्टि डाली।" इसी प्रकार यह जीव जब अपने कर्मोंकी लघुता होनेसे अर्थात् आयुकर्मको छोड़कर शेष कर्मोंकी स्थिति कम हो जानेसे सन्मार्गके सम्मुख होता है और भद्रकभावमें रहता है, तब इसकी योग्यतासे इसपर परमात्माकी दृष्टि पड़ती है। वहां जो उक्त सुन्दर महलके सातवें खनपर रहनेवाले, उसके नीचेके नानाव्यापारमय अदृष्टमूलपर्यन्त नामके समस्त नगरको सर्वदा देखनेवाले, नगरसे बाहिरके भी समस्त पदार्थोंके देखनेमें अरोक

शक्ति रखनेवाले, और निरन्तर आनन्दित तथा अपनी लीलामें लव-लीन रहनेवाले, सुस्थित नामके महाराज कहे गये हैं, सो यहां अ-शरीरी अवस्थामें वर्तमान् परमात्मा—सर्वज्ञ—भगवान्को समझना चाहिये। क्योंकि जिस तरह सुस्थित महाराज महलके सबसे ऊपरके सातवें खनमें रहते हैं, उसी प्रकारसे परमात्मा सर्वज्ञदेव मृत्युलोकसे ऊपर ऊपर सात राजूरूप मंजिलोंवाले लोक—महलके शिखरपर सबसे ऊपर विराजमान हैं। अर्थात् मनुष्यलोकसे सिद्धशिला पर्यंत जो सात राजू ऊंचा लोक है, वहीं एक महल है। इस महलमें एकके ऊपर एक इस प्रकारसे जो सात राजू हैं, वे ही सात मंजिलें हैं, और सबके ऊपर सातवीं मंजिलपर सिद्ध महाराज रहते हैं। जिस तरह सुस्थित महाराज नानाव्यापारमय नगरको और उसके बाहिरके पदार्थोंको देखते हैं, उसी प्रकारसे परमात्मा सर्वज्ञ नानाव्यापारमय संसारविस्तारको तथा उसके बाहिरके अलोकाकाशको अपने केवल-ज्ञानके प्रकाशमे हथेलीपर रक्खे हुए आंवलेके समान देखते हैं। ईसी तरह सुस्थित नरेंद्रके समान वे अनंतवीर्य और अनंतसुख—परिपूर्ण होनेसे निरंतर आनंदित रहकर लीलामें लवलीन रहते हैं। दूसरे जीव उनके समान लीलामग्न रहनेके योग्य नहीं हैं, क्योंकि संसाररूप गड्ढेमें पड़े हुए जीवोंकी लीला यथार्थमें विडम्बनारूप है।

आगे जो कहा है कि, "बड़े २ रोगोंकी अधिकतासे जिसका स्वरूप अतिशय घिनौना दिखता था, ऐसे उस भिखारीको सुस्थित महाराजने दया करके विशेषतासे देखा।" सो इस जीवके विषयमें भी समझना चाहिये। क्योंकि जब यह आत्मा अपने भव्यत्वादि गु-णोंका परिपाक होनेपर इस कोटिमें आरूढ होता है, अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता रखनेवाले जीवोंकी श्रेणीमें प्रवेश करता है,

तब इसपर भगवानकी कृपा होती ही है। क्योंकि भगवानकी कृपाके विना यह मार्गानुसारी (जैनधर्मानुयायी) नहीं हो सकता है। और उनकी कृपासे ही उन भगवानके विषयमें इसका यथार्थ आदरभाव होता है—और तरहसे नहीं। क्योंकि इस विषयमें स्वकर्मोंके क्षय उपशम और क्षयोपशमकी प्रधानता नहीं है। यह जीव ऐसी शोचनीय अवस्थामें पड़ा हुआ है, इस वातको सोचकर भगवानने इसको विशेषतासे देखा, ऐसा कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिनेंद्र भगवान् अचिन्त्य शक्तिके धारक हैं, तथा परोपकार करनेमें ही सदा लवलीन रहते हैं, इसलिये वे इस जीवको मोक्षमार्गके प्राप्त करानेमें मुख्य कारण हैं। यहांपर शास्त्रके अनुसार ऐसा विचार करना चाहिये कि, यद्यपि शरीर-रहित होकर भी परमात्मा समस्त जगतके जीवोंपर दया करनेमें समर्थ है, तो भी वह जीवोंके भव्यत्व, कर्म, काल, स्वभाव और भाग्य आदि सहकारी कारणोंका विचार करके जगत्का अनुग्रह करनेमें प्रवृत्त होता है, इसलिये एक ही समयमें सारे जीव संसारसे पार नहीं हो सकते हैं। अभिप्राय यह है कि, प्रत्येक जीवको एक ही समयमें उक्त भव्यत्व कर्मत्व आदि सहकारीकारण नहीं मिल सकते हैं, इसलिये वे सबके सब एक साथ मुक्त नहीं हो सकते हैं। इस तरह समस्त जीवोंपर दया करनेमें समर्थ होनेके कारण जिनेंद्रदेवकी दृष्टि इस जीवपर जिसका कि भविष्यमें कल्याण होनेवाला है और जो भद्रपरिणामी है, पड़ती ही है।

आगे जिस तरह "भोजनशालाके अधिकारी धर्मबोधकरने उस भिखारीपर महाराजकी दृष्टि पड़ती हुई देखी" ऐसा कहा गया है, उसी प्रकारसे धर्मका बोध (ज्ञान) करनेमें तत्पर होनेके कारण जो 'धर्मबोधकर' इस यथार्थ नामको धारण करनेके योग्य हैं, और सच्चे

मार्गका उपदेश करते हैं, ऐसे आचार्य महाराजने मेरे जीवपर पड़ती हुई परमेश्वरकी दृष्टि देखी; ऐसा समझना चाहिये। विशेष इस प्रकार है कि जिनका आत्मा शुभध्यानके बलसे निर्मल हो गया है और जो दूसरोंका हित करनेमें सदा दत्तचित्त रहते हैं, वे ज्ञानवान योगी देशान्तर और कालान्तरके प्राणियोंकी भी भगवानकी दृष्टि पड़नेकी योग्यताको जान सकते हैं। जो महात्मा छद्मस्थ अवस्थामें वर्तमान हैं अर्थात् अपूर्णश्रुतज्ञानी हैं, तथा जिनकी बुद्धि भगवानके आगमोंसे मँजी हुई है, वे भी जब उपयोग लगाकर अपने समीपके प्राणियोंकी योग्यता (भगवानकी दृष्टि पड़नेकी) को जान जाते हैं, तब विशेष ज्ञानियोंकी अर्थात् सम्पूर्णश्रुतज्ञानियोंकी तो बात ही क्या कहना ? और जिन आचार्य महाराजने मुझे सदुपदेश दिया है, वे विशेषज्ञानी ही थे। क्योंकि उन्होंने मेरा आगामी कालमें होनेवाला भी सारा वृत्तांत जान लिया था। यह मेरी स्वानुभवसिद्ध वार्ता है।

पश्चात् धर्मबोधकर मंत्री विस्मित होकर विचारने लगा कि:—"अहो! मैं यह क्या आश्चर्य देख रहा हूं ? क्योंकि ये सुस्थित महाराज जिसपर दृष्टि डालते हैं, वह पुरुष तत्काल ही तीनों भुवनका राजा हो जाता है। यह बात भलीभांति प्रसिद्ध है। परंतु इस समय जो महाराजकी दृष्टिमें आ रहा है, वह तो भिखारी है, दीनताका मारा हुआ है, रोगी है, दरिद्रताका पात्र है, मोहका हता हुआ है, अतिशय घिनौना है, और संसारसे भयभीत करनेका एक कारण है। तब यह बात पूर्वापर विचार करनेसे भी ठीक २ नहीं जँचती है कि, इस सारे दोषोंसे युक्त भिखारीपर परमेश्वरकी दृष्टि क्यों पड़ी ? क्योंकि:—न कदाचनापि दीर्घतरदौर्गत्यभाजिनां गेहेषु अनर्घेयरत्नवृष्टयो निपतितुमुत्सहन्ते। अर्थात् अमूल्य रत्न अतिशय

दुर्दशाग्रास्त अभागी पुरुषोंके घरोंमें नहीं वरसना चाहते हैं। तो फिर ऐसा क्यों हुआ? इस प्रकार उसके चित्तमें अतिशय आश्चर्य हुआ।" इन सब वातोंको सद्धर्माचार्यके (गुरुके) चित्तमें जो मेरे जीव-विषयक विचार हुए हैं, उनके साथ घटित करना चाहिये। सो इस प्रकारसे कि:—जो जीव पहली अवस्थामें गुरुकर्मपनेके कारण समस्त पाप करता था, सब प्रकारके असभ्य तथा असत्य वचन बोलता था, और निरंतर रौद्रध्यान करता था, वही जीव जब एकाएक विना समयके ही किसी निमित्तसे शुभ सदाचारवाला, सत्य तथा प्रिय बोलनेवाला और अतिशय शांतचित्त हो जाता है, तब जो पूर्वापर विचार करनेमें चतुर होते हैं, उनके मनमें ऐसा वितर्क उठता ही है कि, मनवचनकायकी सुंदर और सद्धर्मकी साधनेवाली प्रवृत्ति भगवानकी कृपाके विना किसीको भी प्राप्त नहीं हो सकती है। और इसकी मनवचनकायकी प्रवृत्ति हमने इसी भवमें अतिशय मलिन देखी थी, परंतु अब शुभरूप हो गई है। इससे जान पड़ता है कि, इसपर भगवान्‌की कृपा हुई है। पर यह वात पूर्वापर विरुद्ध ही सी जान पड़ती है। नहीं तो ऐसे पापी जीवपर भगवानकी दृष्टि कैसे पड़ जाती? क्योंकि वह दृष्टि जिस किसी जीवपर पड़ती है, उसे अनायास ही मोक्ष प्राप्त कराके तीन भुवनका राजा बना देती है। अतएव इस जीवपर भगवानकी दृष्टिका पड़ना संभव नहीं हो सकता है। परन्तु इसमें जो शुभ मनवचनकायकी प्रवृत्तिका कुछ अंश दिखलाई देता है, वह भगवानकी दृष्टिपातके विना संभव नहीं हो सकता है, इससे भगवानकी दृष्टिके पड़नेका सद्भाव भी यहां निश्चित होता है। और इस तरहसे संदेहके दूर करनेका यह एक कारण भी मिलता है। ऐसी दशामें जब कि बुद्धि सन्देह और निश्च-

यकी दोनों कोटियोंका अवलम्बन कर रही है, हमारा मन इस अभिप्रायसे कि "यह क्या आश्चर्य है" डाँवाँडोल हो रहा है।

फिर इस अभिप्रायसे पर्यालोचना करते २ धर्मबोधकरने निश्चय किया कि, "इस भिखारीपर महाराजकी दृष्टि पड़नेके दो कारण हैं और उनसे इसपर परमेश्वरकी दृष्टि पड़ना युक्तिसंगत जान पड़ता है। एक तो यह कि इसे अच्छी तरह परीक्षा करनेवाले स्वकर्मविवर द्वारपालने राजभवनमें प्रवेश करने दिया है, इससे यह महाराजकी विशेष दृष्टिके योग्य है और दूसरे इस राजमन्दिरका अवलोकन करके जिसका मन प्रसन्न होता है, वह महाराजका अत्यन्त प्यारा होता है ऐसा मैं पहले निश्चय कर चुका हूं और मुझे जान पड़ता है कि इसके मनमें प्रसन्नता अवश्य हुई है। क्योंकि यद्यपि इसके दोनों नेत्र रोगोंसे अतिशय पीड़ित हैं, तो भी राजभवनके देखनेकी अभिलाषासे यह उन्हें वारंवार खोलता है। राजमन्दिरके देखनेसे इसका मुख भी जो कि अतिशय बीभत्सरूप (घिनौना) था, एकाएक प्रसन्नताकी प्राप्तिके कारण दर्शनीय हो गया है, और इसके धूलसे मैले हुए सारे अंग-उपांग भी रोमांचित हुए दिखलाई देते हैं। ये सब लक्षण अंतःकरणके हर्षके विना नहीं होते हैं, अतएव राजभवनकी ओर इसका इतना प्रेम होना, यह महाराजकी दृष्टि पड़नेका दूसरा कारण है।" इन सब बातोंका धर्माचार्य महाराज भी मेरे जीवके विषयमें विचार करते हैं। सो इस प्रकारसे किः— अनेक हेतुओंसे जाना जाता है कि, इस जीवके कर्मोंका विच्छेद (कर्मविवर) हुआ है। इसी प्रकार भगवानके शासनको पाकर इसके हृदयमें जो प्रसन्नता हुई हैं, वह भी आगे कहे हुए कई प्रकारोंसे जान पड़ती है। एक तो निष्पुण्यकके आंखें खोलनेके समान जो इस जीवको जीवादि पदार्थोंके

जाननेकी अभिलाषा हुई है उससे, दूसरे धर्मशास्त्रके स्वरूपकी लेश-मात्र प्राप्तिसे जो इसे भिखारीके मुखकी प्रफुल्लताके समान संसारसे संवेग (भयभीतता) हुआ है उससे, और तीसरे धूलसे मलिन हुए अंगोपांगोंमें रोमांच होनेके समान जो इसकी थोड़ीसी प्रवृत्ति शुभ क्रियाओंमें हुई है, उससे। इन तीन बातोंसे इस जीवके मनकी प्रसन्नता सूचित होती है और इससे भगवानकी उसपर दृष्टि पड़ी है, ऐसा निर्णय होता है। मेरे जीवविषयक निश्चय करनेमें भी ये दो ही कारण हैं, एक 'स्वकर्मविवरताकी प्राप्ति' और दूसरा 'भगवानके शासनका पक्षपात'।

पश्चात् उस भोजनशालाके अधिकारीने निष्पुण्यकके विषयमें चिन्तवन किया कि:—"यद्यपि यह इस समय भिखारी है, तथापि महाराजकी दृष्टि पड़नेके कारण इसका धीरे २ कल्याण होता जायगा और कुछ कालमें यह वस्तुत्वको (महाराजत्वको) प्राप्त हो जायगा, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।" इसी प्रकारसे धर्माचार्य महाराज भी यह जान करके कि इस जीवपर भगवानका दृष्टिपात हो गया है, इसलिये इसका भविष्यमें अवश्य ही कल्याण होगा; ऐसा सन्देहरहित होकर निश्चय कर लेते हैं।

जैसे सुस्थित महाराजकी उस भिखारीपर दृष्टि पड़ी है, ऐसा निर्णय होते ही उनकी अनुवृतिके वश (अनुयायी होनेके कारण) धर्मबोधकर दयालु हो गया, उसी प्रकारसे इस जीवपर परमात्मा भगवान्‌की दृष्टि पड़ी है, ऐसा जानकर धर्मगुरु वा धर्माचार्य महाराज भी उनकी (भगवानकी) आराधना करनेमें तत्पर रहनेके कारण दयालु हो जाते हैं। अर्थात् आचार्य महाराज इस जीवपर दया करके मानो जिनेन्द्रदेवकी ही आराधना करते हैं। क्योंकि

भगवानकी जिसपर दृष्टि पड़ जाती है, उसपर कृपा करना उस दृष्टिकी वा दृष्टि डालनेवालेकी ही आराधना करनेके बराबर है।

फिर "वह रसोईका अधिकारी धर्मबोधकर आदरके वश शीघ्र ही उसके समीप गया और 'हे भद्र। आओ। आओ। मैं तुम्हें भिक्षा दूं' ऐसा कहकर उसने भिखारीको बुलाया।" ऐसा जो कहा है, सो इस प्रकारसे योजित करना चाहिये कि:---पहले कहे हुए न्यायसे अनादि संसारमें परिभ्रमण करते २ जब इस जीवके भव्यत्व गुणका परिपाक होता है, क्लिष्ट (अशुभ) कर्म बहुत करके क्षीण हो जाते हैं, जो थोड़ेसे शेष रह जाते हैं, वे रंध्र दे देते हैं अर्थात् शिथिल हो जाते हैं, मनुष्यभवादि सामग्री प्राप्त होती है, सर्वज्ञशासनका दर्शन होता है, उसके विषयमें अच्छी बुद्धि होती है, पदार्थोंके जाननेकी थोड़ी-सी इच्छा होती है, और अच्छे कर्म करनेकी कुछेक बुद्धि होती है, तब धर्माचार्य महाराजके परिणाम अतिशय दयालु होते हैं। और इस प्रकारके भद्रकभावमें (निकटभव्यत्वमें) वर्तता हुआ जीव यद्यपि अभीतक पाप करता है, तथापि इसपर भगवान्‌की दृष्टि पड़ी है, इसलिये यह सन्मार्गमें (जिनशासनमें) आनेके योग्य है, ऐसा निश्चय करके वे भावपूर्वक इसके (मेरे) सम्मुख होते हैं। इसे धर्म-बोधकरके भिखारीके समीप आनेके समान समझना चाहिये। आगे धर्माचार्य महाराज प्रसन्न होकर इससे कहते हैं कि:-हे भद्र। यह-लोक अकृत्रिम है अर्थात् किसीका बनाया हुआ नहीं है, काल अनादि अनन्त है, आत्मा शाश्वतस्वरूप है अर्थात् इसका कभी नाश नहीं होता है-अजर अमर है, इसके पीछे जो मरने जीनेरूप भवप्रपंच लगा हुआ है, वह कर्मोंके कारण है, वे कर्म अनादि कालसे जीवके साथ सम्बद्ध हो रहे हैं, और उन कर्मोंकी उत्पत्तिमें प्रवाह-

रूपसे मिथ्यात्वादि परिणाम कारण हैं। अर्थात् बीज वृक्षके समान मिथ्यात्वसे कर्म और कर्मोंसे मिथ्यात्वादि परिणाम होते रहते हैं। ये कर्म दो प्रकारके हैं, कुशलरूप और अकुशलरूप अर्थात् शुभरूप और अशुभरूप। इनमेंसे जो कुशलरूप हैं, उन्हें पुण्य तथा धर्म कहते हैं और जो अकुशलरूप हैं, उन्हें अधर्म तथा पाप कहते हैं। सुखोंका अनुभव पुण्यके उदयसे और दुःखोंका अनुभव पापोंके उदयसे होता है। इन पुण्य और पापोंकी ही जो अनंतभेदरूप न्यूनाधिकता (तरतमता) होती है, उसीसे यह उत्तम, मध्यम, और अधम आदि अनंतभेदरूप विस्मयकारी संसार उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि, संसारमें जो अधिक सुखी, कम सुखी, अधिक दुखी, कम दुखी आदि नानाप्रकारके जीव दिखलाई देते हैं, वे सब इन पुण्य और पापोंकी न्यूनाधिकतासे हुए हैं। जिस समय यह जीव धर्माचार्य महाराजके उक्त वचन सुन रहा था, उस समय इसे अनादिकालकी कुवासनाके कारण आगे कहे हुए अनेक कुविकल्प उत्पन्न हुए थेः—यह संसार एक अंडेमेंसे उत्पन्न हुआ है[1], अथवा ईश्वरका बनाया हुआ है[2], अथवा ब्रह्मा विष्णु आदिने इसे बनाया है[3], अथवा यह एक प्रकृतिका विकार है[4], अथवा क्षण क्षणमें क्षय होनेवाला है[5], अथवा यह पंचस्कन्धात्मक[6] जीव पांच भूतोंसे[7] उत्पन्न हुआ है[8], अथवा विज्ञानमात्र है[9], अथवा यह जो कुछ है, सो सब शून्यरूप है[10], अथवा कर्म कोई पदार्थ ही नहीं है[11], अथवा यह सब जगत् महादेवके वशसे नानारूप होता रहता है[12]। ये सब वि-

१ स्मार्तमत। २ नैयायिक। ३ पौराणिक। ४ सांख्य। ५ बौद्धका एक भेद। ६ रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच स्कन्ध हैं। ७ पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश। ८-९-१० बौद्धोंके तीन भेद। ११ चार्वाक। १२ औन्द्रक्यदर्शन।

कल्प इस तरहसे दूर हो जाते हैं, जिस तरह संग्राम भूमिमें भयंकर महायोधाके देखनेसे शत्रुओंसे डरनेवाले मनुष्य भाग जाते हैं। और तब यह जीव मानता है कि, ये महात्मा मुझसे जो कुछ कहते हैं, वह सब युक्तियुक्त है। ये वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी परीक्षा मुझसे बहुत अधिक कर सकते हैं। इससे पूर्वकथामें जो कहा है कि, "धर्मबोधकरको पास आते देखकर वे सबके सब लड़के जो कठिनाईसे भी नहीं रुकते थे, कठोर थे और कष्ट देनेके लिये भिखारीके पीछे लगे हुए थे, भाग गये।" सो उसकी भी योजना हो गई। क्योंकि उक्त कुविकल्प ही दुर्दांत[1] लड़कोंके समान हैं, जो जीवको कष्ट देते हैं और सुगुरुके मिलनेसे ही पीछा छोड़ते हैं। इस प्रकारसे जब इस जीवके सारे कुविकल्प नष्ट हो जाते हैं, तब यह गुरुमहाराजके वचन सुननेकी अभिलाषासे कुछेक उनके सम्मुख होता है। उस समय पराई भलाई करनेका ही जिन्हें व्यसन लगा हुआ है, ऐसे गुरु इसे सन्मार्गका उपदेश देते हुए इस प्रकारसे कहते हैं कि:—"हे भद्र! सुन, इस संसारमें पर्यटन करते हुए इस जीवका धर्म ही अतिशय प्यार करनेवाला पिता है, धर्म ही गाढ़ी प्रीति करनेवाली माता है, धर्म ही अभिन्नहृदय अर्थात् एक सरीखे परिणामोंवाला भाई है, धर्म ही सदा एकसा स्नेह रखनेवाली बहिन है, धर्म ही सारे सुखोंकी खानि अपनेपर अनुरक्त रहनेवाली और गुणवती स्त्री है, धर्म ही विश्वासी, एकरस, अनकूल और सारी कलाओंमें चतुर मित्र है, धर्म ही देवकुमारों सरीखा सुंदर और चित्तको अतिशय आनंदित करनेवाला पुत्र है, धर्म ही अपने शील और सौंदर्य गुणसे जयपताका प्राप्त करनेवाली और कुलकी उन्नति करनेवाली पुत्री है, धर्म ही सदाचारी बन्धुवर्ग है,

1 दुःखसे जिनका अन्त हो सके।

धर्म ही विनयवान परिकर (नौकर चाकर) है, धर्म ही राजापना है, धर्म ही चक्रवर्तीपना है, धर्म ही देवपना है, धर्म ही इन्द्रपना है, धर्म ही अपनी सुन्दरतासे त्रिभुवनको पराजित करनेवाला और जरामरणके विकारोंसे रहित वज्र सरीखा सुदृढ़ शरीर है, धर्म ही समस्त शास्त्रोंके अभिप्रायोंके सुंदर शब्द सुननेवाले कान हैं, धर्म ही तीनों लोकोंको देख सकनेवाले कल्याणदर्शी नेत्र हैं, धर्म ही मनको प्रसन्न करनेवाली अमूल्य रत्नोंकी राशियां हैं, धर्म ही चित्तको आल्हादित करनेवाले और विषघातन आदि आठ गुणोंके धारण करनेवाले सोनेका ढेर है, धर्म ही शत्रुओंका नाश करनेवाली चतुरंगिनी सेना है, और धर्म ही अनंत रतिसागरमें अवगाहन करानेवाले विलासस्थान हैं। अधिक कहनेसे क्या विघ्नरहित अनन्त सुखोंका कारण एक धर्म ही है और कोई दूसरा नहीं है।"

जब इस प्रकारसे मधुरभाषी भगवान् धर्माचार्य उपदेश देते हैं, तब इस जीवका चित्त कुछेक आकर्षित होता है, और उसके कारण नेत्र उघाड़ता है, मुखकी प्रसन्नता दिखलाता है, विकथा आदि दूसरे विक्षेपोंको—झगड़ोंको छोड़ देता है, कुछ सोचता हुआ मुसकुराता है और कभी चुटकी बजाने लगता है। उस समय आचार्य भगवान इसे कुछ रसमें पैठा हुआ समझकर इस प्रकार कहते हैं:—"वह धर्म जिसकी मैंने अभी प्रशंसा की है, चार प्रकारका है—दानमय, शीलमय, तपोमय और भावनामय। इसलिये हे भाई! तू चाहता है, तो इन चारों ही प्रकारके धर्मोंका तुझे पालन करना चाहिये। जितना तुझसे बन सके, उतना सुपात्रोंको दान दे, सारे पापोंको छोड़ दे (सकलचारित्र), अथवा स्थूल पापोंको छोड़ दे (विकलचारित्र) अथवा हिंसासे, झूठ बोलनेसे, चोरी करनेसे, परस्त्रीसेवनसे, अमर्यादित

परिग्रह जोड़नेसे, रात्रिभोजनसे, मद्य पीनेसे, मांस खानेसे, सजीव फल (गूलरआदि उदुम्बुरफल) खानेसे, मित्रद्रोहसे, गुरुकी स्त्री सेवनसे, अथवा और भी जो वातें तुझसे छोड़ी जा सकें, उनसे निवृत्त हो जा, शक्तिके अनुसार किसी एक तपको कर, और निरन्तर शुभभावनाओंका चिन्तवन किया कर, जिससे तुझे इस लोकमें और परलोकमें दोनों जगह सब प्रकारके सुख प्राप्त हों।" इससे कथामें जो कहा है कि:-"धर्मबोधकरने जब उस भिखारीको भोजन करनेके योग्य स्थानमें ले जाकर बिठाया, और अपने सेवकोंको उसे भिक्षा देनेके लिये आज्ञा दी; तब शीघ्र ही उसकी (धर्मबोधकरकी) तद्दया नामकी लड़की अतिशय मीठे परमान्न को (खीरको) लेकर उसके देनेके लिये पहुंच गई।" सो सब इस तरहसे योजित होगया कि:- धर्माचार्यने जो धर्मकी प्रशंसा की, सो भिखारीको बुलानेके समान समझना चाहिये, उसके चित्तको अपनी ओर आकर्षण करना भोजनके योग्य स्थानमें ले जाकर बिठानेके तुल्य जानना चाहिये, धर्मके भेद वर्णन करना सेवकोंको भिक्षा देनेके लिये आज्ञा करनेके समान मानना चाहिये और उन गुरुमहाराजकी इस जीवपर जो दया हुई, उसे धर्मबोधकरकी 'तद्दया'[1] नामकी पुत्री जानना चाहिये। इसके सिवाय दानमय, शीलमय आदि चार प्रकारके धर्मोंके पालन करनेके उपदेश देनेको तद्दयाके परमान्न देनेके समान समझना चाहिये। क्योंकि वह धर्मोपदेशरूप परमान्न धर्माचार्योंकी दयासे (तद्दयासे) ही जीवको प्राप्त हो सकता है—अन्य किसी प्रकारसे नहीं।

आगे कहा है कि:—"उस धर्मबोधकरको अकारण भिक्षा देनेके लिये इस प्रकार अतिशय आदरवान् देखकर भिखारी सो-

१ तस्मिन् जीवे दया-कृपा।

चने लगा कि, और दिन भिक्षा माँगनेपर भी लोग मुझे निकाल देते थे अथवा तिरस्कारपूर्वक कुछ थोड़ा बहुत दे देते थे। परन्तु आज यह सुन्दर वेषवाला पुरुष जो राजासरीखा जान पड़ता है, स्वयं आकर मुझे बुलाता है और 'तुझे भिक्षा देता हूं' ऐसा कहकर लुभाता है। यह क्या आश्चर्य है? इस प्रकार विचार करते हुए भिखारीके मनमें फिर उसके ओछे अभिप्रायोंके कारण यह बात उठी कि, यह मुझे अच्छा नहीं मालूम होता है। जान पड़ता है कि, यह सब प्रपंच मेरे मूसनेके लिये रचा गया है। मेरा यह भिक्षाका पात्र प्रायः पूरा भर चुका है, इसलिये यह मुझे किसी निर्जन स्थानमें ले जाकर इसे जरूर ही छीन लेगा। तो अब मुझे क्या करना चाहिये? क्या मैं इस स्थानसे एकाएक भाग जाऊं? अथवा बैठकर इस पात्रमेंके भोजनको ही भक्षण कर डालूं? अथवा मुझे भिक्षा नहीं चाहिये इस प्रकार प्रतिषेध करके यहांसे एक पैर भी आगे न बढ़ाऊं? अथवा इसे धोखा देकरके—छलकरके जल्दीसे कहीं घुसकर छुप रहूं? न जाने इससे मेरा छुटकारा कैसे होगा? जब वह ऐसे २ बुरे विकल्पोंके उपजनेसे व्याकुल होता हुआ चिन्ता करता है, तब उसे बड़ा भारी भय होता है, तृष्णा बढ़ती है, हृदय सूखता है, अन्तरात्मा विह्वल हो जाता है, और चित्तवृत्तिके अतिशय जडरूप हो जानेसे संरक्षणानुबन्धी महारौद्रध्यान उत्पन्न होता है। इंद्रियोंका व्यापार रुद्ध हो जाता है, नेत्रबन्द हो जाते हैं, और चेतना नष्ट हो जाती है, इससे नहीं जानता है कि मैं कहां लाया गया हूं, अथवा कहां ठहरा हूं, केवल गढ़ी हुई खड़ी खूँटीके समान निश्चेष्ट हो कर खड़ा रहता है और वह तद्दया वारंवार 'यह भोजन ग्रहण कर' इस प्रकार कह कह कर थक जाती है। परन्तु निष्पुण्यक दरिद्री अपने उस सारे रोगोंके करनेवाले तुच्छ कुभोजनकी रक्षा करनेके गहरे

प्रेममें अर्थात् संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यानमें ऐसा नष्टबुद्धि हो जाता है कि, बेचारा सारे रोगोंके हरण करनेवाले और अमृतके समान मीठे परमान्नको देनेके लिये बुलाती हुई उस तद्दयाको नहीं जानता है— उसकी बात भी नहीं सुनता है।" भिखारीका यह सब चरित्र जीवके विषयमें इस प्रकारसे घटित करना चाहिये:—

जीवका हित करनेकी इच्छासे जिस समय भगवान् धर्मगुरु धर्मकी विस्तारपूर्वक प्रशंसा करके फिर चार प्रकारके धर्मके पालन करनेका उपदेश देते हैं, उस समय यह जीव मिथ्याज्ञानरूप महा अंधकारमय काच, पटल, तिमिर और कामला (पीलिया) आदि व्याधियोंके कारण विवेकरूपी नेत्रोंकी शक्ति लुप्त हो जानेसे, अनादि संसारसे जिसका अभ्यास हो रहा है, ऐसे महामिथ्यात्वरूप उन्माद तथा संतापके कारण दुखी होनेसे, तीव्र चारित्रमोहनीयरूप रोगोंसे विह्वल होनेसे और विषयधनस्त्रीपुत्रादिके गाढ़े मोहसे घिरा होनेसे इस प्रकार विचार करता है कि, " जब पहले मैं धर्म अधर्मके विचारकी कुछ भी खोज नहीं करता था, तब इन साधुओंके पास कभी जाता था, तो ये मेरी बात भी नहीं पूछते थे। और यदि किसी अवसरपर मुझसे कुछ धर्मके विषयमें कहते थे, तो अनादरसे केवल एक दो बातें कहते थे। परन्तु अब मुझे धर्म अधर्मके जाननेमें तत्पर समझकर और 'यह हमारे उपदेशका अनुगामी हो जायगा' ऐसा मानकर मैं नहीं पूछता हूं, तो भी ये जगत्प्रसिद्ध जैनसाधु अपने कंठ और तालुके सूखनेका विचार न करके ऊंचे स्वरसे और वचनोंकी रचनाके बड़े भारी घटाटोपसे मेरे आगे धर्मकी प्रशंसा करते हैं। और मेरा चित्त कुछ धर्मकी ओर खिंचा हुआ देखकर मुझसे दान दिलाते हैं, शील ग्रहण कराते हैं, तपस्या कराते हैं, और भावनाएं चिन्तवन कराते हैं।

तब यह नहीं जान पड़ता है कि, इनके इस विना समयके ही इतने वचनोंके घटाटोपका गूढ आशय क्या है? मेरे सुन्दर २ स्त्रियां हैं, नाना प्रकारके द्रव्योंका संचय है, अनेक प्रकारके धान्यके कोठे हैं और सब प्रकारके चौपाये तथा कुप्य पदार्थ हैं। ये सब बातें जान पड़ता है कि, इन्हें अब निश्चयपूर्वक मालूम हो गई हैं; इससे इनके उक्त सब वचनाडम्बरका यह अभिप्राय होगा कि, 'तुझे दीक्षा देते हैं, तेरे सब पाप नष्ट किये देते हैं, तेरे कर्म-बीजको जलाये देते हैं, तू हमारा वेष धारण कर, गुरुके चरणोंकी पूजा कर, और उनके चरणोंमें ही अपनी स्त्री, धन, सोना आदि समस्त सम्पत्ति चढ़ा दे, फिर उनकी आज्ञाके अनुसार चलनेसे तू पिंडपात करके अर्थात् शरीरको छोड़कर शिव हो जायगा।' ऐसे २ वचनोंकी रचनासे ठगकर ये जैनसाधु शैवाचार्यके समान मुझे मूसनेकी इच्छा करते हैं अर्थात् छीन लेना चाहते हैं, अथवा 'सुवर्णदान बहुत बड़े फलका देनेवाला है, गायका दान देनेसे पुरुष बड़ा भाग्यशाली होता है, पृथिवीका दान करना अक्षय्य (अविनाशी) होता है, पूर्तधर्म अर्थात् यज्ञ करना वा सरोवर आदि खुदाना अतुल फलका देनेवाला है, वेदके पारगामी ब्राह्मणोंको दान देना अनन्तगुणे फलका दाता होता है, तत्कालकी व्यानी हुई, वछड़ेवाली (?), वस्त्र ओढ़े हुए, सोनेसे मढ़े हुए सींगोंवाली, और रत्नोंसे सजाई हुई गाय विधिपूर्वक ब्राह्मणको देनेसे जिसके चारों समुद्ररूपी मेखला (करधनी) है, ऐसी ग्राम नगर खानि पर्वत और उपवनों सहित पृथ्वी दान दी, ऐसा समझा जाता है, और वह अटूट फलकी देनेवाली होती है।' ऐसे २ मूर्ख लोगोंको ठगनेवाले कपोलकल्पित श्लोकोंमें रचे हुए ग्रन्थोंसे जिस प्रकार ब्राह्मण लोग संसारको ठगते हैं, उस प्रकारसे ये

जैनमुनि भी मेरी सम्पत्तिको हरण करनेकी इच्छा करते हैं। अथवा 'अतिशय रमणीय विहार बनवाओ, उनमें बहुश्रुत (ज्ञानी) साधुओंका निवास कराओ, संघकी पूजा करो, भिक्षुओंको दक्षिणा दो, अपनी सम्पत्तिको समस्त संघसम्बन्धी भंडारमें रख दो, संघके कोठोंमें ही अपने धान्यके संग्रहको रख दो, संघसम्बन्धी संज्ञातिमें (गोकुलमें?) ही अपने चौपाये समर्पण कर दो, और बुद्धधर्मके संघके अगुआ हो जाओ। ऐसा करनेसे तुम्हें शीघ्र ही बुद्धपदकी प्राप्ति हो जायगी।' इस प्रकार वाचालतासे रचे हुए अपने मायाजालरूप शास्त्रोंसे जिस प्रकार रक्तभिक्षु अर्थात् बौद्धसाधु विसंवाद (ठगाई) करते हैं, उसी तरह ये जैनसाधु भी विसंवाद करके मेरी सारी सम्पत्तिको लेना चाहते हैं। अथवा 'संघकी ज्योनार कराओ, ऋषियोंको जिमाओ, मीठे मीठे खाद्य पदार्थ देओ, और मुखको सुगन्धित करनेवाले सुन्दर द्रव्य भेंट करो, दान ही गृहस्थका परम धर्म है क्योंकि इसीसे संसारसे तरण होता है।' इस प्रकारसे लुभाकरके अपने शरीरको पुष्ट करनेमें तत्पर रहनेवाले दिगम्बरके* समान ये जैनसाधु मेरा धन हरण करके खिसक जावेंगे। यदि ऐसा नहीं होता, तो ये मेरा इतने विस्तारसे धर्मकथन करनेरूप आदर क्यों करते? तात्पर्य यह है कि, ये श्रमण

---

* यद्यपि ग्रन्थकर्ता श्वेताम्बरसम्प्रदायके अनुयायी हैं, इसलिये उनका दिगम्बरसम्प्रदायके विरुद्धमें लिखना स्वाभाविक है। परन्तु दिगम्बर जैसी वीतरागवृत्तिमें शरीरपोषणतत्परताका, मिष्टभोजनकी लोलुपताका और मुखसुगंधिकी आवश्यकताका आक्षेप सर्वथा ही असंगत प्रतीत होता है। बल्कि निष्पक्ष दृष्टिसे देखा जाय, तो दिगम्बरवृत्तिकी अपेक्षा श्वेताम्बरवृत्तिमें ऐसी बातोंकी अधिक संभावना हो सकती है। तब यह आक्षेप वेदानुयायी परमहंसोंके विषयमें तो नहीं है, जो कि दिगम्बरमुनियोंके समान ही नग्न रहते हैं। अनुवादक.।

(जैनसाधु) तब ही तक अच्छे हैं, जब तक इनके पास नहीं गये हैं और जबतक इनके वशमें नहीं हुए हैं। वशवर्ती भोले जीवोंको तो ये मायावी श्रद्धालु समझकर नाना प्रकारकी बातोंकी रचनासे ठग लेते हैं। अतएव ये मेरी सारी सम्पत्तिको हर लेंगे, इसमें अब मुझे कुछ भी सन्देह नहीं रहा है। तो अब मुझे पहले ही पहिल मिले हुए इन श्रमण महात्माके साथ क्या करना चाहिये? क्या कुछ उत्तर दिये विना ही मैं यहांसे उठकर चला जाऊं? अथवा साफ कह दूं कि, मुझमें धर्म धारण करनेकी शक्ति नहीं है? अथवा ऐसा उत्तर दे दूं कि, मेरा सारा धन चौरादि हरण कर ले गये हैं—मेरे पास अब कुछ नहीं रहा है, इससे पात्रोंको कुछ नहीं दे सकता हूं। अथवा ऐसा कहकर इसे टाल दूं कि, आपके धर्मानुष्ठानोंकी मुझे आवश्यकता नहीं है, इसलिये इस विषयमें अब आपको मुझसे कुछ भी नहीं कहना चाहिये। अथवा विना समयके बेमौके तुमने यह बात कही है, यह बतलानेके लिये क्रोध-सूचक भौंहें चढा लूं? न जाने यह श्रमण मेरे इन वचनोंपर ध्यान देकर अपने ठगाईके बुरे अभिप्रायोंको कैसा छोड़ता है और कैसे मुझे मुक्त करता है।"

यह बेचारा जीव गहरी मूर्खताके कारण नहीं जानता है कि, वे ज्ञानवान् धर्माचार्य संसारके समस्त पदार्थोंको तुपकी (चावलके ऊपरकी भुसीकी) मुट्ठीके समान सारहीन जानते हैं। उनका अन्तःकरण अतुल संतोपामृतसे तृप्त रहता है। वे विपके समान विषयोंके विषम विपाकको (बुरे परिणामको) जानते हैं। उनका चित्त मोक्ष पानेके लिये अतिशय लवलीन रहता है, इसलिये वे सबको समान समझकर और अत्यन्त इच्छारहित होकर सच्चे मार्गका उपदेश दिया करते हैं, और इन्द्रमें तथा भिखारीमें कुछ भी भेद नहीं

समझते हैं–दोनोंको बराबर समझते हैं। बड़ी भारी ऋद्धिके धारक देवोंमें और धनरहित गरीबोंमें विभागकल्पना नहीं करते हैं–अर्थात् कुछ अन्तर नहीं समझते हैं। चक्रवर्ती और रंकमें अन्तर नहीं बतलाते हैं। परम ऐश्वर्यवान् दानीमें और कंजूस मनुष्यमें आदर और अनादरका वर्ताव नहीं करते हैं। उनके विचारमें बड़ा भारी ऐश्वर्य दरिद्रताके समान है, अमूल्य रत्नोंकी राशियां कठोर पत्थरोंके ढेरके समान हैं, ताये हुए सोनेके कूट मिट्टीके ढेलोंके सदृश हैं, धान्यका संग्रह नमककी राशियोंके तुल्य हैं, चांदीका संचय धूलिके पुंज सरीखा है, चौपाये और कुप्य (सोने चांदीके सिवाय दूसरी धातुएं) आदि पदार्थ सारहीन कूड़ाकर्कटके तुल्य हैं और रतिके रूपको भी पराजित करनेवाली सुन्दर स्त्रियां काठके पुराने स्तंभों सरीखी हैं। ऐसी दशामें वे जो सुन्दर उपदेश देनेमें प्रवर्त रहते हैं, इसका उन्हें दूसरोंकी भलाई करनेका जो व्यसन पड़ गया है, उसके सिवाय और कोई दूसरा कारण नहीं है। वे स्वार्थका (अपने आत्माके कल्याणका) सम्पादन भी वास्तवमें स्वाध्याय, ध्यान, तप तथा चारित्र आदि अन्य द्वारोंसे करते हैं। इससे सिद्ध है कि, वे सांसारिक स्वार्थ सम्पादनके लिये उपदेशादि कार्य नहीं करते हैं। और उनके हृदयमें लाभ आदिकी सारी ही अभिलाषाओंको अवकाश नहीं मिल सकता है। परन्तु यह अतिशय अंधबुद्धि जीव ये सब बातें नहीं जानता है, इसलिये सद्गुरुओंका उदार अभिप्राय नहीं जान करके अपने चित्तकी अतिशय ओछाई तथा दुष्टताके अनुसार उनके चित्तको भी अपने समान समझ करके महामोहके वश उन्हें अतत्त्वदर्शी शैव, ब्राह्मण, बौद्ध और दिगम्बरोंके समान मान लेता है। जब यह जीव कर्मग्रन्थिका भेद कर चुकता है और दर्शनमोहनीयके तीन

पुंज करके मिथ्यात्व पुंजमें वर्तमान रहता है, तब इसके ऊपर कहे हुए सारे विकल्प हुआ करते हैं।

इसके पश्चात् उक्त प्रकारके विकल्प करनेवाले जीवके फिर मिथ्यात्वका विष फैलता है, जिसके वशसे यह मुनिप्रणीत दर्शनका पक्षपात शिथिल कर देता है, पदार्थोंके स्वरूपके जाननेकी इच्छा छोड़ देता है, सद्धर्ममें लवलीन रहनेवाले जीवोंका तिरस्कार करता है, विचारहीन (अन्यधर्मी) जनोंका सत्कार करता है, पहले जो थोड़ेसे अच्छे कार्य करता था, उनके करनेमें प्रमाद करता है, भद्र परिणामोंको छोड़ देता है, विषयोंमें अतिशय लवलीन हो जाता है, उनके (विषयोंके) धनकंचन आदि साधनोंको तत्त्वबुद्धिसे देखता है अर्थात् समझता है कि, सुखप्राप्तिके वास्तविक कारण ये ही हैं, और ऐसा ही (विषयसम्बन्धी) उपदेश देनेवाले गुरुओंका आश्रय लेता है, उनके वचनोंको प्रतारणारूप (ठगाईरूप) नहीं किन्तु सच्चे हितकारी समझकर सुनता है, धर्मकी निन्दा करनेवाले वचन कहता है, धर्म गुरुओंके मर्मस्थानोंको (गुह्य बातोंको) उघाड़ता है, झूठा विवाद करके प्रतिकूल बना रहता है और इसलिये गुरुओंके द्वारा पदपदपर अपमानित होता है। उस समय (अपमानित होने पर) चिन्तवन करता है कि, उत्तम पद्धतिसे रचे हुए बहुतसे ग्रन्थ जिनके पास हैं, ऐसे ये गुरु मेरे जैसे पुरुषसे वादमें नहीं हटाये जा सकते हैं, इसलिये ये मुझे झूठे विकल्पोंसे ठगकर कपटकलासे अपना भक्ष्य बना लेंगे अर्थात् अपने पंजेमें फँसा लेंगे। अतएव मुझे दूरहीसे इन्हें छोड़ देना चाहिये, घर आनेसे रोक देना चाहिये, दिख पड़ें तो भी इनसे बातचीत नहीं करना चाहिये और इनके नामका भी सहन नहीं करना चाहिये, अर्थात कोई इनका नाम लेवे, तो उसे दश गालियां

सुनाना चाहिये। इस प्रकार कुभोजनके सदृश धन विषय स्त्री आदिमें मोहित और उनकी रखवाली करनेमें तत्पर रहनेवाला यह जीव महामोहके वशवर्ती होकर सदुपदेश देनेवाले गुरुओंको ठग समझकर रौद्रध्यान करने लगता है। उस समय धर्माचार्य महाराज इसे ज्ञानचेतनारहित काठके गढ़े हुए खड़े खंभेके समान देखते हैं। और इसलिये उनकी दया सुन्दर परमान्नरूप सद्धर्माचरण करनेका उपदेश देती है परन्तु यह बेचारा जीव उसे नहीं जानता है। ज्ञानियोंके लिये इससे अधिक आश्चर्यकारक विषय और क्या होगा कि, यह जीव महानरकमें डालनेवाले धन विषयादिकोंमें तो लुब्ध होता है, और सद्गुरुकी दयासे पाये हुए और अनन्त सुखमय मोक्षके देनेवाले सदनुष्ठानोंकी अर्थात् अच्छे आचरणोंकी अवहेलना करता है।

आगे कहा है कि:—"धर्मबोधकरने ऐसा असंभव वृत्तान्त प्रत्यक्ष देखकर सोचा कि, यह भिखारी इस परमान्नको जो कि आदरसे दिया जाता है, क्यों नहीं लेता है? इसका आत्मा पापसे हता गया है, इसलिये निश्चयपूर्वक जान पड़ता है कि, यह भोजन इसके योग्य ही नहीं है।" जीवके विषयमें भी यह सब इस प्रकारसे बराबर घटित होता है कि:—ऊपर कहे अनुसार विस्तारयुक्त धर्मोपदेशसे अथवा दूसरे किसी कारणसे भी जब सुधर्मगुरु इस जीवको भद्रभावोंसे भ्रष्ट तथा विपरीत आचरण करनेवाला देखते हैं, तब उनके हृदयमें इस प्रकारके भाव होते हैं कि, यह जिनेन्द्रदेवके धर्मको धारण करनेका पात्र नहीं है, क्योंकि इसका कल्याण होनेवाला नहीं है। अच्छा होनहार नहीं है—अच्छी गतिमें जानेके योग्य नहीं है, क्योंकि इसे कुगतिमें जाना है। धर्मात्माओंके द्वारा संस्कारित होनेके योग्य नहीं है, क्योंकि इसे बड़े बुरे २ विकल्प उठा करते हैं। अतएव इस मोही जीवके विषयमें मेरा परिश्रम करना व्यर्थ है।

फिर वहुत विचार करके धर्मवोधकरने निश्चय किया कि, "इस वेचारेका यह दोप नहीं है । यह बाहर और भीतर सर्वत्र नाना रोगोंसे घिर रहा है, इसलिये उनकी वेदनासे विह्वल होकर कुछ भी नहीं सोच समझ सकता है। यदि यह नीरोग होता, तो जब जरासे भीखके बुरे भोजनके मिल जानेसे सन्तुष्ट हो जाता है, तब इस अमृतके समान मीठे परमान्नको क्यों नहीं ग्रहण करता ?" धर्माचार्य महाराजका भी पर्यालोचना करनेसे ऐसा ही विचार होता है कि, यद्यपि यह जीव विपयादिकोंमें गीधता है, बुरे मार्गसे चलता है, और दिया हुआ उपदेश नहीं मानता है, परन्तु इसमें इस वेचारेका दोप नहीं है–मिथ्यात्वादि भावरोगोंका दोप है । उनके कारण इसकी चेतना नष्ट होगई है, इससे यह कुछ भी नहीं जान सकता है। यदि यह उक्त मिथ्यात्वादिरोगोंसे रहित होता, तो अपने हितको छोड़कर अपना अहित करनेमें क्यों प्रवृत्त होता ?

आगे वह धर्मवोधकर फिर विचार करने लगा कि:—"यह भिखारी नीरोग कैसे हो ? इसका विचार करते हुए उसे स्मरण हो आया कि, अहो! इसके रोगोंके दूर करनेका उपाय भी तो है। मेरे पास तीन बहुत अच्छी औपधियां हैं। उनमें एक **विमलालोक** नामका उत्कृष्ट अंजन है, जो विधिपूर्वक आँजनेसे नेत्रके सारे रोगोंको नाश करता है और उन्हें सूक्ष्म, दूरवर्ती, भूतकालवर्ती और भविष्यतकालवर्ती पदार्थोंके भी देखनेमें चतुर बना देता है। दूसरा **तत्त्वप्रीतिकर** नामका तीर्थजल है, जो विधिपूर्वक पीनेसे शरीरके सारे ही रोगोंको हल्का कर देता है, दृष्टिको पदार्थके यथार्थ स्वरूपके ग्रहण करनेमें चतुर बनाता है, और उन्मादको तो अवश्य ही नष्ट कर देता है। और तीसरा इसी कन्याका लाया हुआ **महाकल्याणक** नामका

परमान्न है। इसका यदि भली भाँति सेवन किया जाय, तो यह सबके सब रोगोंको जड़से उखाड़ देता है, पुष्टि करता है, धीरज बढ़ाता है, बलको प्रकाशित करता है, वर्णका उत्कर्ष करता है, अर्थात् रूपको सुन्दर बनाता है, मनको प्रसन्न करता है, अवस्थाको स्थिर करता है अर्थात् आयु बढ़ाता है, पराक्रमी करता है, और और्जित्यको (तेजको ?) बढ़ाता है। अधिक कहनेसे क्या यह अजर अमरपनेको भी समीप करा देता है, इसमें सन्देह नहीं है। तो अब इन तीनों औषधियोंकी भलीभाँति योजना करके मैं इस बेचारेको व्याधियोंसे मुक्त कर दूं—निरोगी बना दूं, यह सिद्धान्त उसने अपने मनमें स्थापित किया।"

धर्माचार्य महाराज भी इस जीवके विषयमें ऐसा ही विचार करते हैं। जब वे इस जीवकी पहलेकी सब प्रवृत्तियां देखकर निश्चय करते हैं कि यह जीव भव्य है—केवल प्रबल कर्मोंकी कलासे व्याकुल होकर सन्मार्गसे भ्रष्ट हो गया है; तब उनके ऐसे परिणाम होते हैं कि, यह इन रोगोंके समान कर्मोंसे कैसे छूटेगा? और इस तरह यथार्थ बातके शोधनेमें चित्तको व्याकुल करते २ और दूर तक सोचते २ वे ज्ञानदर्शनचारित्ररूप रत्नत्रयको ही जो किं विमलालोक आदि तीन औषधियोंके समान है भिखारीको कष्टसे छुड़ानेका उपाय समझते हैं, अन्य किसीको नहीं।

यहांपर ज्ञानको अंजन समझना चाहिये। क्योंकि यह ज्ञान ही प्रत्येक पदार्थको स्पष्ट रीतिसे दिखलानेके कारण विमलालोक कहलाता है, ज्ञान ही नेत्ररोगोंके समान अज्ञानको नष्ट करता है, और ज्ञान ही 'बीते हुए' 'वर्तते हुए' तथा 'होनेवाले' पदार्थोंके स्वरूपको प्रगट करनेवाले विवेकचक्षुओंका सम्पादन करता है। दर्शनको तीर्थका जल समझना

चाहिये ।जीव अजीव आदि तत्त्वोंमें श्रद्धान करानेका कारण होनेसे यह तत्त्वप्रीतिकर (तत्त्वोंमें प्रीति अर्थात् विश्वास करानेवाला) कहलाता है। यह (सम्यग्दर्शन) उत्पन्न होनेके समय सब कर्मोंकी स्थिति केवल अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरकी (एक कोड़ाकोड़ी सागरसे कुछ कमकी) कर देता है और उत्पन्न हो चुकनेपर उस स्थितिको प्रत्येक क्षणमें और और कम करता जाता है। इससे इसे समस्त रोगोंका क्षीण करनेवाला समझना चाहिये । क्योंकि यहां कर्मोंको रोगोंकी उपमा दी गई है। और यही सम्यग्दर्शन दृष्टिके समान ज्ञानको ज्योंके त्यों पदार्थोंके ग्रहण करनेमें चतुर कर देता है अर्थात् सम्यग्दर्शनके कारण ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। और यही महा उन्मादके समान मिथ्यात्वका नाश करता है। चारित्रको परमान्न समझना चाहिये । सदनुष्ठान, धर्म, सामायिक और व्रत आदि सब इसीके पर्यायवाची नाम हैं। यह चारित्र ही मोक्षरूप महाकल्याणको प्राप्त करानेवाला है, इसलिये महाकल्याणक कहलाता है। यही रागादि बडी २ भारी व्याधियोंको जड़से मिटा देता है। यही रूप, पुष्टि, धीरज, बल, मनकी प्रसन्नता, और्जित्य, आयुकी स्थिरता, और पराक्रम इनके समान आत्माके सारे गुणोंको प्रगट करता है। क्योंकि इस जीवमें रहनेवाला चारित्र धैर्यका उत्पादक, उदारताका कारण, गंभीरताकी खानि, शान्तिताकी मूर्ति, वैराग्यका स्वरूप, पराक्रमकी बढ़तीका मुख्य कारण, निर्द्वन्द्वताका (निश्चिन्तताका) सहारा, चित्तकी निर्वृत्तिका मुख्यस्थान और दया क्षमादि रत्नोंके उपजनेकी भूमि है और यही अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुखसे परिपूर्ण स्थानको जो कि कभी नाश नहीं होता है, जिसमेंसे कभी कुछ कम नहीं होता है, और जो बाधारहित है, प्राप्त कराता है, अतएव अजर अमरपना भी इससे प्राप्त होता है, ऐसा कहा है।

इसलिये इस दुखी जीवको ऐसे अनेक गुणोंवाले दर्शन–ज्ञान–चरित्र-का प्रयोग करके मैं अशुभ कर्मोंके जालसे छुड़ा दूं, इस प्रकार धर्मा-चार्य महाराज भी अपने चित्तमें निश्चय करते हैं।

आगे कहा है कि "धर्मबोधकरने सलाईकी नौकपर अंजनको लगा-कर उस भिखारीकी आँखोंमें उसके इधर उधर बहुत गर्दन हिलानेपर भी आँज दिया, जिससे कि उसे उसी समय अंजनकी सुखदायकतासे शीतलतासे, और अचिन्तनीय गुणोंके संयोगसे चेतना आ गई। इससे उसकी आँखें खुल गईं और उनमें जो पीड़ा हो रही थी, वह कुछ शान्त हो गई। तब विस्मित होकर वह विचार करने, लगा कि, यह क्या हो गया?" इसकी यहांपर इस प्रकार योजना करना चाहिये कि:— पहले तो यह जीव भद्रक परिणाम धारण करता है, जिनेन्द्र भगवा-नके धर्ममें रुचि करता है, जिनेन्द्रके बिम्बोंको नमस्कार करता है, साधुओंकी उपासना करता है, धर्म–पदार्थके जाननेकी इच्छा करता है, दानादि करनेमें प्रवृत्त होता है, और धर्मगुरुओंके हृदयमें अपने विषयमें ऐसी बुद्धि उत्पन्न करता है कि, यह पात्र है। परन्तु पीछे अशुभ कर्मोंके उदयसे धर्मके लम्बे चौड़े उपदेशादिका निमित्त मिल जानेसे पूर्वोक्त भद्रपरिणामोंसे भ्रष्ट हो जाता है। इससे चैत्यालयमें नहीं जाता है, साधुओंकी वस्तिकाओंमें प्रवेश ही नहीं करता है, साधुओंको देखकर भी उनकी वन्दना नहीं करता है, श्रावकोंको आदरपूर्वक नहीं बुलाता है, घरमें जो दानादिक होता है, उसे बन्द कर देता है, धर्मगुरुओंको दूरहीसे देखकर खिसकता है, और उनके पीछे उनकी निन्दा भी करता है। इसे इस प्रकार ज्ञान-चेतनासे हीन समझकर धर्मगुरु अपनी बुद्धिरूपी सलाईपर उसके प्र-तिबोधित करनेका उपायरूप जो अंजन है, उसको लगाते हैं—अर्थात्

अपनी बुद्धिसे उसके सुलटानेका उपाय करते हैं। वह इस तरहसे कि:—कभी मन्दिर वा वस्तिकासे बाहिर किसी स्थानमें विना समयके जाते आते मिल जानेसे उसके साथ प्रियसंभाषण करते हैं, हम तुम्हारे हितचाहनेवाले हैं, ऐसी बुद्धि प्रदर्शित करते हैं, सरलभावोंको प्रगट करते हैं, इस प्रकारका विश्वास उत्पन्न कराते हैं कि हम ठग नहीं हैं और फिर उसके भावोंको लक्ष्य करके किसी दूसरे पुरुष से (अन्योक्तिरूपसे) कहते हैं कि, हे भद्र! तू साधुओंकी वस्तिकामें क्यों नहीं आता है? अपना हित क्यों नहीं करता है? इस मनुष्य जन्मको क्यों व्यर्थ खोये देता है? क्या तू शुभ और अशुभमें अर्थात् पुण्य और पापमें क्या अन्तर है, यह नहीं जानता है? पशु भावका अनुभव क्यों कर रहा है—अर्थात् इस तरह पशुओंके समान विना विवेकके अपना जीवन क्यों व्यतीत करता है? हम वारंवार समझाते हैं कि, तेरे लिये यही (उपदेश) पथ्य (हितकारी) है। यह सब सलाईपर अंजन लगानेके समान समझना चाहिये। यहां उपदेशरूप कारणमें सम्यग्ज्ञानरूप कार्यका उपचार किया गया है। अभिप्राय यह है कि, यथार्थमें सम्यग्ज्ञानरूप अंजन पथ्य है, परन्तु उपदेश उसका कारण है, इसलिये उसको भी पथ्य कह दिया है।

गुरुमहाराजका ऊपर कहा उपदेश सुनकर यह संसारीजीव आठप्रकारके उत्तर (जवाब) सोचकर बोला:—"हे श्रमण! १ मुझे अवकाश बिलकुल नहीं मिलता है, २ भगवान्के समीप मुझसे नहीं आया जाता है, ३ जिन्हें किसी प्रकारका व्यापार नहीं है अर्थात् जो निठल्ले रहते हैं, उन्हें धर्मकी चिन्ता होती है, ४ मेरे जैसे यदि घरसे कहीं अन्यत्र आया जाया करें, तो मेरा कुटुम्ब ही भूखे मर जाय—घरके जो हजारों काम हैं, उनमेंसे एक भी नहीं चले, ६ व्यापार

नहीं हो सके, ७ राजसेवा नहीं बन सके और ८ खेती आदिकार्य बाकी रहकर बढ़ जावें।" जीवके इन टालटूलके उत्तरोंको अंजन लगाते समय भिखारीके इधर उधर सिर हिलानेके समान समझना चाहिये। जीवके ये वचन सुनकर दयालु धर्मगुरु यह सोचकर कि, यह बेचारा पुण्यहीन जीव दुर्गतिको चला जायगा, इसलिये इसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिये–अर्थात् उदास होकर इसे छोड़ नहीं देना चाहिये; बोले कि:–"हे वत्स! यद्यपि ऐसा ही होगा अर्थात् तुझे अवकाश वगैरह नहीं मिलता होगा, तो भी मेरे अनुरोधसे जो मैं एक बात कहता हूं, उसे कर। वह यह कि, तुझे रात दिनमें केवल एक बार उपाश्रय वा वसतिकामें आकर साधुओंका दर्शन कर जाना चाहिये। बस यही एक प्रतिज्ञा ग्रहण कर ले, अब हम और कुछ भी तुझसे ग्रहण करनेके लिये नहीं कहेंगे।" तब उसने 'अब ऐसे विकट मार्गमें आ पड़नेपर क्या करना चाहिये,' ऐसा सोचकर इच्छा न रहते भी उक्त प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली, अर्थात् प्रतिदिन उपाश्रयमें जाकर साधुओंका दर्शन करना स्वीकार कर लिया। जीवने यह जो गुरुमहाराजके वचनका गौरव किया, अर्थात् उसे मान लिया, सो भिखारीका अपनी आँखोंमें अंजन अँजानेके समान है। तदनन्तर प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेनेपर वह प्रतिदिन साधुओंके उपाश्रयमें जाने लगता है। वहां अच्छे २ साधुओंका समागम रहनेमें, उनकी विनावनावटकी सच्ची क्रियाओंके देखनेसे, उनके निष्पृहता (इच्छारहितपना) आदि गुणोंका निरीक्षण करनेसे और स्वयं बाँधे हुए पाप परमाणुओंकी निर्जरा होनेसे उसको विवेककी प्राप्ति होती है। इसे गई हुई चेतनाके फिर आनेके समान समझना चाहिये। इसके पश्चात् इस जीवको जो वारंवार धर्मका स्वरूप जाननेकी इच्छा होती है, उसे आँखें खोलनेके समान, जो क्षणक्षणमें अज्ञानका नाश होता है,

उसे नेत्ररोगोंकी पीड़ाके धीरे२ उपशम वा कम होनेके समान और ज्ञानके होनेपर जो चित्तमें थोड़ासा संतोष होता है, उसे विस्मित होनेके समान समझना चाहिये।

और भिखारीकी कथामें जो यह कथन किया है कि, "इतना सब होनेपर भी उस भिखारीका अपनी भीखकी रखवाली करनेका अभिप्राय जो उसे बहुत कालसे अभ्यस्त हो रहा था, सर्वथा नष्ट नहीं हुआ। उसके वशीभूत होकर वह उस पुरुषपर फिर २ कर शंका करने लगा कि, कहीं यह मेरे भीखका भोजन छीन न लेवे, और वहांसे भाग जानेकी इच्छा करने लगा।" सो मेरे इस जीवके विषयमें भी इस तरहसे घटित होता है कि:—जबतक यह जीव प्रशम (शांति), संवेग (संसारसे भयभीतता), निर्वेद (वैराग्य), अनुकम्पा (दया) और आस्तिक्य लक्षणोंसे युक्त अधिगमज[1] सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं करता है, तब तक व्यवहारसे श्रुतमात्रकी प्राप्ति होनेपर भी बहुत थोड़ासा विवेक होनेके कारण भिखारीके भीखके भोजन समान धन, विषय, स्त्री आदिमें जो परमार्थबुद्धि है, अर्थात् ऐसा श्रद्धान है कि, ये वास्तवमें सुखके देनेवाले हैं, वह दूर नहीं होती है। और इस बुद्धिसे ग्रसित हुआ जीव जैसा कि, स्वयं उसका मलीन चित्त है, उसीके अनुसार, जिनके हृदयमें किसी प्रकारकी अभिलाषा नहीं है, ऐसे मुनिराजोंके विषयमें वारबार ऐसी शंका करता है कि, यदि मैं इनके समीप रहूंगा, तो ये मुझसे कुछ न कुछ मांगेंगे। और इससे उनके साथ गहरा परिचय छोड़ देनेकी इच्छासे उनके पास भी बहुत समय तक नहीं बैठता है।

---

1 जो सम्यक्त्व दूसरेके उपदेशादिसे होता है, उसे अधिगमज कहते हैं।

और जो कहा है किः—"वेह धर्मबोधकर उस भिखारीको अपने अंजनके माहात्म्यसे सचेत हुआ देखकर बोला कि, हे भद्र! इस जलको पी ले, जिससे तेरा शरीर स्वस्थ हो जाय। परन्तु उसने न जाने इसके पीनेसे मेरा क्या होगा, इस प्रकारकी शंका करके उस 'तत्त्वप्रीतिकर' जलको नहीं पिया, जो कि सारे तापोंका शमन करनेवाला था। निदान उस दयालु धर्मबोधकरने 'दूसरेकी भलाई यदि बलात्कार करनेसे भी हो सके, तो करनी चाहिये' ऐसा सोच कर अपने सामर्थ्यका प्रयोग किया और उससे उसका मुंह फाड़कर वह जल पिला दिया। उसका आस्वादन करते ही निष्पुण्यकका महा उन्माद नष्ट सरीखा हो गया, शष रोग हलकेसे पड़ गये, और दाहकी पीड़ा शान्त हो गई। इससे वह स्वस्थचित्तसरीखा हो गया और फिर विचारने लगा।" यह सब वृत्तान्त जीवके विषयमें इस प्रकारसे योजित करना चाहिये किः—

यह जीव थोड़ासा अवकाश पाकर अच्छे साधुओंके उपाश्रयोंमें जाता है। वहां उनकी संगतिसे पाये हुए केवल शास्त्रोंके पढ़नेसे थोड़ासा ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु सम्यग्दर्शनके पाये विना धन स्त्री विषय आदिमें परमार्थदृष्टि रखता है अर्थात् उन्हें वास्तवमें हितकारी समझता है। इसलिये उनमें जो उसके ममतारूप परिणाम होते हैं, उनसे अच्छे साधुओंको भी वे कुछ मांग न लेवें, ऐसी शंकाकी दृष्टिसे देखता है और इसलिये उनसे धर्मकथाके व्याख्यान सुनना छोड़ देता है जब धर्माचार्य महाराज इस जीवको ऐसी अवस्थामें देखते हैं, तब अपनी दयालुतासे उनका यह विचार होता है कि, यह अच्छेसे अच्छे गुणोंका पात्र हो जाय, और इसलिये वे जब कभी उसे अपने पास देखते हैं, तब किसी दूसरे पुरुषको

१ इसका सम्बन्ध २६ वें पृष्ठके पहले पारिग्राफसे है।

उद्देश्य करके उसे सुनाते हुए सम्यग्दर्शनके गुणोंका वर्णन करते हैं। वह कितना दुर्लभ है अर्थात् कितनी कठिनाईसे प्राप्त होता है, यह प्रगट करते हैं, उसके पानेवालेको स्वर्गमोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा दिखलाते हैं और इस लोकमें भी वह चित्तको अतिशय विश्रान्तिका करनेवाला है, ऐसा सूचित करते हैं। यह सब उस सचेत हुए दरिद्रीको पानी पानेके लिये बुलानेके समान समझना चाहिये।

धर्मगुरुके उक्त वचन सुनकर इस जीवकी बुद्धि डाँवाँडोल हो जाती है। वह सोचता है कि, यह साधु अपने इस सम्यग्दर्शनके बहुत २ गुण वर्णन करता है, सो तो ठीक है। परन्तु यदि मैं सम्यग्दर्शनको ग्रहण कर लूंगा, तो यह मुझे अपने वशमें आया हुआ समझकर भोजन तथा धनादि मांगने लगेगा। तब मैं ऐसी ठगाईमें क्यों पड़ूं, जिसमें परलोकमें सुखादि मिलनेकी आशासे, पाये हुए धनादि पदार्थ छोड़ना पडते हैं? इस आत्मप्रवंचनासे मुझे क्या प्रयोजन है? ऐसा सोचकर वह सुनी अनसुनी करके उस सम्यग्दर्शनको अंगीकार नहीं करता है। इसे निष्पुण्यकके विषयमें जल पीनेके लिये बुलानेपर भी उसके पीनेकी इच्छा न करनेके समान समझना चाहिये।

तदनन्तर धर्मगुरु विचार करते हैं कि, "फिर इसको बोध करनेका अर्थात् सुल्टानेका और कौन उपाय होगा?" आगे पर्यालोचना करते २ अर्थात् सोचते २ वे अपने हृदयमें उपायका निश्चय कर लेते हैं और फिर जब किसी अवसरपर वह साधुओंके उपाश्रयमें आनेवाला होता है, तब दूसरे लोगोंको उद्देश्य करके उसके आनेके पहलेहीसे धर्मोपदेशका प्रारंभ कर देते हैं:—"हे प्राणियो! दूसरे सब विकल्पोंको छोड़कर सुनो। संसारमें अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष ये

चार पुरुषार्थ हैं। कोई २ लोग मानते हैं कि, इनमेंसे अर्थ (धन) ही सबसे मुख्य पुरुषार्थ है।" इसी समय वह जीव भी आ पहुंचता है और व्याख्यान सुनने लगता है। धर्मगुरु आगे कहते हैं कि:— "जो पुरुष धनके भंडारसे शोभित होता है अर्थात् जिसके पास बहुत-सा धन होता है, वह चाहे वृद्धावस्थाके कारण अतिशय जीर्ण-शरीर हो गया हो, परन्तु आश्रित पुरुषोंको पच्चीस वर्षके उन्मत्त जवान सरीखा प्रतीत होता है। अतिशय कायर डरपोक हो, तो भी उसकी प्रशंसा की जाती है कि, इन्होंने बड़े २ युद्धोंमें साहसको नहीं छोड़ा है और इनके बल तथा पराक्रमकी किसीसे तुलना नहीं हो सकती है। 'सिद्धमातृका' अर्थात् अ आ इ ई उ ऊ आदि वर्णमालाका उच्चारणमात्र करनेकी भी शक्ति न हो, तो भी बन्दीजन (भाट) विरद पढ़ते हैं कि, आपकी बुद्धि समस्त शास्त्रोंके अर्थका अवगाहन करनेमें चतुर है। अर्थात् आप सारे शास्त्रोंका रहस्य जानते हैं। ऐसा बुरा रूप हो कि, शेठजी किसीसे देखे भी नहीं जाते हों, तो भी चाटुकार (खुशामद) करनेवाले सेवक अनेक हेतु देकर सिद्ध करते हैं कि, आप काम-देवके भी रूपको जीतनेवाले हैं। प्रभावकी (रौनकी) गंध भी न हो तो भी धनके लालची लोग कहते हैं कि, आपका प्रभाव समस्त संसारके पदार्थोंको प्राप्त करा देनेवाला है। नीच घटदासी अर्थात् पानी भरनेवाली कहारिनके पुत्र हों, तो भी धनके प्रेमी लोग स्तुति करते हैं कि, आप अतिशय प्रसिद्ध और बड़े भारी ऊंचे वंशमें उत्पन्न हुए हैं। बन्धुताका सात पीढ़ी तक किसीसे कोई सम्बन्ध न हो, तो भी सब लोग अपना परमबन्धु (कुटुम्बी) समझकर सत्कार करते हैं। यह सब भगवान **धन-देवकी** लीला है। और

एकसा पुरुषत्व होनेपर और एक बराबर हाथ पाँव नाक कान आदि अवयव होनेपर भी हम देखते हैं कि, एक पुरुष दाता है और दूसरा याचक—भिखारी है, एक राजा है और दूसरा पयादा है, एक उपमा-रहित शब्दादि विषयोंको भोगनेवाला है और दूसरा अपने कठिनाईसे भरे जाननेवाले पेटरूपी गड्ढेको भी नहीं भर सकता है, एक पालनेवाला है और दूसरा पलता है; इत्यादि जितने अन्तर दिखलाई देते हैं, वे सब धन महाराज ही अपने रहने और न रहनेसे करते हैं। अतएव सब पुरुषार्थोंमें धन ही प्रधान पुरुषार्थ है। और इसी लिये कहा है:—

अर्थाख्यः पुरुषार्थोऽयं प्रधानः प्रतिभासते॥
तृणादपि लघुं लोके धिगर्थरहितं नरम्॥

अर्थात्—यह अर्थ (धन) नामका पुरुषार्थ ही सबसे प्रधान जान पड़ता है। इस संसारमें जिसके पास धन नहीं है, वह एक तिनकेसे भी हलका है। उसको धिक्कार है।"

आचार्य महाराजके मुखसे निकली हुई यह अर्थ पुरुषार्थकी प्रशंसा सुनकर यह जीव चिन्तवन करने लगा कि, 'वाह! बहुत अच्छे प्रस्तावका कथन करना प्रारंभ किया है' और फिर ध्यान लगाकर सुनने लगा, सुनकर समझने लगा, और समझ करके यह सूचित करनेके लिये कि 'मैं समझ गया हूं' गर्दन हिलाने लगा, आंखें फाड़ने लगा, मुखको विकसित करने लगा अर्थात् मुसकराने लगा, और 'अच्छा कहा!' 'अच्छा कहा!' इस प्रकार धीरे २ कहने लगा। इन चिन्हेंसे ज्ञानवान् गुरु महाराजने यह जान लिया कि, इसे व्याख्यान सुननेका कौतूहल उत्पन्न हो गया है और इसलिये उन्होंने अतिशय आदर वा प्रेमके साथ अपना व्याख्यान प्रारंभ

किया कि:—"हे प्राणियों! और कोई २ लोग ऐसा मानते हैं कि, काम (पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन) ही सबसे प्रधान पुरुषार्थ है। उनके विचार इस प्रकारके होते हैं कि, जबतक पुरुष सुन्दर स्त्रियों-के मुखकमलोंके परागका स्वाद लेनेके लिये भ्रमरसरीखी क्रीड़ा नहीं करता है, तब तक वह वास्तवमें पुरुष नहीं हो सकता है। क्योंकि धन जोड़नेका, नाना प्रकारकी कलाएं सीखनेका, पुण्य कमानेका, और इस मनुष्य जन्मके पानेका, वास्तवमें काम ही श्रेष्ठ फल है। क्योंकि यदि ये सब बातें अच्छी भी हुईं, अर्थात् धनादि बहुतसा भी हुआ, परन्तु कामकी प्राप्ति नहीं हुई, तो उनका होना किस कामका? बल्कि जिन लोगोंका चित्त कामसेवन करनेमें तयार रहता है, उन्हें उस कामके साधनभूत धन, सोना, स्त्रियाँ आदि पदार्थ उनके योग्य होनेसे अपने आप ही आकर प्राप्त हो जाते हैं। इस बातको बाल गोपाल सब ही जानते हैं कि, 'संपद्यन्ते भोगीनां भोगाः' अर्थात् जो भोगी हैं, उन्हें भोग मिल ही जाते हैं। और भी कहा है कि:—

स्मितं न लक्षेण वचो न कोटिभि—
 र्न कोटिलक्षैः सविलासमीक्षितम्।
अवाप्यतेऽन्यैरदयोपगूहनं
 न कोटिकोट्यापि तदस्ति कामिनाम्॥

अर्थात्—दूसरे पुरुषोंको जो मन्द मुसक्यान लाख रुपये खर्च कर-नेसे प्राप्त नहीं हो सकती है, जो मीठा बोल करोड़ों रुपयोंसे भी श्रवण-गोचर नहीं हो सकता है, और जो विलास (नखरा) युक्त कटाक्ष लाखों करोड़ों रुपयोंसे भी निक्षिप्त नहीं हो सकता है, और जो निष्ठुर-ताका आलिंगन कोटिकोटी (कोड़ाकोड़ी) रुपयोंसे भी लभ्य नहीं हो सकता है, कामी पुरुषोंको वह सब सहज ही प्राप्त हो सकता है।

तब कामियोंको किस बातकी कमी है? अतएव काम पुरुषार्थ ही सबसे मुख्य है। और इसी लिये कहा है कि:—

फामाख्यः पुरुपार्थोऽयं प्राधान्येनैव गीयते।
नीरसं काष्टकल्पं हि धिक्काम विकलं नरम्॥

अर्थात्—यह काम पुरुपार्थ ही सबसे प्रधान कहा जाता है। जो लोग कामपुरुपार्थसे रहित हैं, वे सूखे हुए काठके समान हैं। उन्हें धिक्कार है।

यह सुनकर यह जीव हर्षकी अधिकताके कारण अपने हृदयसे भी बाहर होगया अर्थात् खुशीके मारे अपने आपेमें न समाया और प्रकाशरूपसे बोल उठा:- "भट्टारक महाराजने बहुत अच्छा कहा! बहुत अच्छा कहा! बहुत समयके पीछे आज यह सुन्दर व्याख्यान आरंभ हुआ है। यदि आप ऐसा व्याख्यान प्रतिदिन देंगे, तो मैं अवकाशरहित होनेपर भी अर्थात् मुझे फुरसत नहीं मिलेगी तो भी मन लगाकर सुना करूंगा।" इस सब कथनको धर्माचार्य महाराजके द्वारा जीवके शक्तिपूर्वक मुँह खोले जानेके समान समझना चाहिये। (और इसे सुनकर जीवने जो मुंहसे प्रशंसा प्रगट की है, सो भिखारीका मुंह खोलना है।)

इस जीवने व्याख्यानसे प्रसन्न होकर जब इस प्रकार कहा, तब धर्माचार्य महाराजके मनमें यह बात आई कि, महामोहकी चेष्टा देखो, जो उसके मारे हुए प्राणी केवल प्रसंगवश कहीं हुई अर्थ और कामकी कथाओंमें तो लवलीन हो जाते हैं परन्तु यत्नसे (उसीके उद्देश्यसे) कही जानेवाली धर्मकथामें नहीं होते। हमने तो अपनी धर्मकथाके वर्णनमें प्रसंग पाकर पहले अर्थ (धन) और काममें प्रीति करनेवाले क्षुद्र प्राणियोंके अभिप्राय वर्णन किये हैं,

परन्तु इस बेचारेने उन्हीं अभिप्रायोंको सुन्दर समझ लियाँ है। अस्तु। तो भी यह जो किसी तरहसे सुननेके लिये तत्पर हो गया है, सो सामान्य बात नहीं है। हमारा परिश्रम सफल हो गया है। और जो इसको प्रतिबोधित करनेका उपायरूप बीज सोचा गया था, उसमें अंकुर निकल आये हैं। अब यह मार्गपर आ जावेगा। गुरुमहाराज ऐसा मनमें विचार कर कहते हैं कि:—"हे भद्र! जो पदार्थ जिस रूपमें होता है, हम उसे उसी रूपमें वैसाका वैसा प्रकाशित करते हैं। हम कुछका कुछ मिथ्या कहना नहीं जानते हैं। तब यह जीव चित्तमें कुछ विश्वास हो जानेसे कहता है कि, "हे भगवन् आप जैसा कहते हैं, वैसा ही है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।" गुरुमहाराजने कहा, "भद्र! यदि ऐसा है, तो कहो, अर्थ और कामका माहात्म्य तुम्हारी समझमें आ गया?" इसने कहा, "हां! बहुत अच्छी तरहसे!" गुरुमहाराजने कहा, "हे सौम्य! हमने चारों पुरुषार्थोंके कहनेका उपक्रम किया था, जिनमेंसे दोका स्वरूप कहा जा चुका है। अब तीसरेका स्वरूप कहा जाता है, सो भी तुम्हें एकचित्त होकर सुनना चाहिये।" इसने कहा, "भगवन्! मैं सावधान हूं, आप कहनेका प्रारंभ कीजिये।" तब आचार्य महाराज कहने लगे:—"हे लोगो! कोई २ लोग ऐसा मानते हैं कि, धर्म ही सबसे प्रधान पुरुषार्थ है। वे कहते हैं कि, यदि धर्म प्रधान नहीं होता तो जीवपनेसे समान होनेपर भी क्या कारण है कि, कोई पुरुष तो ऐसे कुलोंमें जन्म लेते हैं, जिनमें कुलक्रमसे—अनेक पीढ़ियोंसे धनका संग्रह चला आता है, जो चित्तको अतिशय आनन्दित करनेके स्थान होते हैं, और सारा संसार जिनका सन्मान करता है, और कोई पुरुष ऐसे कुलोंमें

उपजते हैं, जिनमें कभी धनकी गन्धका भी सम्बन्ध नहीं हुआ है, जो सारे दुःखोंके भाजन हैं और जिनकी सब लोग निन्दा करते हैं। तथा एक माता पितासे एक साथ उत्पन्न हुए दो सहोदर भाईयोंमें यह विशेषता क्यों दिखलाई देती है कि, उनमेंसे एक तो रूपमें कामदेव सरीखा होता है, शान्तितामें मुनियोंके समान होता है, बुद्धिवैभवमें अभयकुमारके[1] तुल्य होता है, गंभीरतामें क्षीर समुद्रके जैसा होता है, स्थिरतामें सुमेरुके शिखरतुल्य होता है, शूरतामें अर्जुनके सदृश होता है, धनमें धनद अर्थात् कुबेरके समकक्ष होता है, दानमें राजा कर्णके समान होता है, निरोगतामें वज्रसरीखे शरीरवाला होता है, और सदा प्रसन्न रहनेमें बड़ी २ ऋद्धियोंके धारी देवोंके तुल्य होता है। इस तरह सारे गुणों और कलाओंसे शोभित होकर वह सब लोगोंके नेत्रों और चित्तोंको आनन्दित करता है। और दूसरा भाई अपनी घिनौनी सूरतसे संसारभरके चित्तको व्याकुल करता है, अपनी बुरी २ चेष्टाओंसे अपने मातापिताको भी दुखी करता है, मूर्खशिरोमणिपनेसे पृथ्वीभरको जीतता है, तुच्छतामें—हलकेपनमें सेंमर और आकके बुओंसे भी बढ़ जाता है, चपलतासे बन्दरोंकी लीलाकी भी हँसी करता है, डरपोंकपनमें चूहोंको भी नीचा दिखलाता है, निर्धनतामें भिखारी जैसा रूप धारण करता है, कंजूसीमें ढक्के[2] जातिके लोगोंसे भी आगे बढ़ जाता है, बड़े २ रोगोंसे घिरा होनेके कारण जब वह

---

१ श्रेणिक महाराजके पुत्र अभयकुमारकी बुद्धिमत्ताका वर्णन श्रेणिकचरित्रमें देखना चाहिये। २ इस पुस्तकके गुजराती अनुवादक महाशयने ढक्क जातिका अर्थ चांडाल जाति किया है। ढक्क (ढाक) एक प्रकारके बाजेका नाम है, इसे अकसर नीचजातिके लोग बजाते हैं। इस लिये ढक्का बजानेवालोंको ढक्क जाति कह सकते हैं। परन्तु हम यह नहीं कह सकते हैं कि, कंजूसीमें चांडाल प्रसिद्ध हैं या नहीं।

व्याकुलतासे रोता है, तब उसपर सारे जगतको करुणा आ जाती है, और दीनता व्याकुलता और शोक आदिसे मारा हुआ होनेके कारण घोर नरकोंके समान दुःखोंको सहा करता है। इस तरह सारे दुर्गुणोंका पात्र होनेके कारण 'पापी है,' 'अदर्शनीय है' ऐसा कहकर लोग उसकी निन्दा करते हैं।"

"और यह भी सोचना चाहिये कि, ऐसे दो पुरुष जो अजेय बल, ज्ञान, पौरुष और पराक्रम आदि सारे गुणोंमें एक बराबर हैं--किसी बातमें एक दूसरेसे कम नहीं हैं, जब एक ही साथ धन कमानेके लिये प्रवृत्त होते हैं, तब क्या कारण है कि उनमेंसे एक तो खेती, पशुपालन, व्यापार, राजसेवा अथवा और भी जो कोई काम करता है, उसीमें सफलता प्राप्त करता है, परन्तु दूसरा उन्हीं कामोंको करके न केवल विफल ही होता है, बल्कि उलटा अपने बापदादाओंका कमाया हुआ जो थोड़ा बहुत धन होता है, उसे भी पूरा कर देता है।"

"इसके सिवाय यह भी विचारना चाहिये कि, कोई दो पुरुषोंको पांचों इन्द्रियोंके उपमारहित स्पर्श, रस, शब्द आदि पांचों विषय जब एक साथ प्राप्त होते हैं, तब क्या कारण है कि, उनमेंसे एक तो प्रबल शक्ति और बढ़ती हुई प्रीतिवाला होकर उन्हें निरन्तर भोगता है और दूसरा अकालमें ही कृपणता अथवा अन्य किसी रोगादि कारणके उत्पन्न हो जानेसे, चाहता है तो भी उन्हें नहीं भोग सकता है। संसारी जीवोंमें जो ऐसी ऐसी विशेषताएं होती हैं, उनका कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दिखलाई देता है, और विनाकारणके कुछ हो नहीं सकता है। क्योंकि यदि विनाकारणके ही ऐसी विशेषताएं हों, तो वे आकाशके समान या तो सर्वदा ही रहना चाहिये, या शशाके (खरगोशके) सींगोंके समान कभी नहीं रहना चाहिये।

अभिप्राय यह है कि, आकाशके उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं है, इसलिये वह सदा ही रहता है अर्थात् नित्य है और शशाके सींग उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं है, इसलिये उसके सींग कभी होते ही नहीं हैं। इसी तरहसे विशेपताएँ यदि विना कारणके हों, तो उन्हें हमेशा एकसी रहना चाहिये, अथवा होनी ही नहीं चाहिये। परन्तु ये विशेपताएँ कहीं होती हैं और कहीं नही होती हैं। इससे जान पड़ता है कि, ये सब भेद वा अन्तर निष्कारण नहीं हैं। इनका कोई न कोई कारण अवश्य है।"

इस बीचमें अभिप्राय समझकर जीव बोला:—"तो भगवन्! उक्त विशेपताओंके होनेका क्या कारण है?" धर्मगुरुने कहा:–"हे भद्र! सुनो, जीवोंमें जो सब प्रकारकी सुन्दर विशेपताएं होती हैं उन सबका केवल धर्म ही एक अन्तरंग कारण है। यह पूज्य धर्म ही इस जीवको अच्छे कुलोंमें उत्पन्न करता है, सारे गुणोंका स्थान बनाता है, इसकी सारी क्रियाओंको सफल करता है, प्राप्त हुए भोगोंको निरन्तर भोगने देता है और दूसरे सब शुभ विशेपोंको अर्थात् सुखसामग्रियोंको प्राप्त करा देता है। और जीवोंमें जो सब प्रकारकी असुन्दर विशेपताएं होती हैं–उनका केवल अधर्म ही एक कारण है। यह दुरन्त[1] वा दुष्परिणामी अधर्म ही इस जीवको बुरे कुलोंमें उत्पन्न करता है, सारे दुर्गुणोंका पात्र बनाता है, इसके सब व्यवसायोंको निष्फल कर देता है, पाये हुए भोगोंके भोगनेमें विघ्न करनेवाली अशक्तता वा दुर्बलता उत्पन्न करता है, और अनन्त प्रकारकी बुरी विशेपताओंका संयोग करा देता है। अतएव जिसके बलसे ये समस्त सम्पदाएं प्राप्त होती हैं, वही धर्म पुरुपार्थ सबसे प्रधान है। धर्मके विना अर्थ और

---

१ जिसका नतीजा खराब हो।

काम उनके चाहनेवाले पुरुषोंको भी नहीं मिल सकते हैं, परन्तु धर्म जिनके पास होता है, उन्हें ये अर्थ और काम वे नहीं चाहते हैं, तो भी आप ही आप आकर मिल जाते हैं। अतएव जिन पुरुषोंको अर्थ और कामके सम्पादन करनेकी इच्छा हो, उन्हें यथार्थमें धर्म ही करना चाहिये। इस तरह धर्म ही प्रधान पुरुपार्थ है। यद्यपि अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुखस्वरूप जीवका अपने स्वरूपमें स्थिर करनेवाला जो चौथा मोक्षपुरुषार्थ है, वह ही सारे क्लेशोंका नाश करानेवाला तथा स्वाभाविक और स्वाधीन आनन्दमय होता है, इसलिये प्रधान पुरुपार्थ है; परन्तु वह धर्मका कार्य है अर्थात् धर्मकारण है और मोक्ष कार्य है; इसलिये उसका प्रधानतासे वर्णन करनेपर भी वास्तवमें जो उसका प्राप्त करानेवाला है, वह धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ है, ऐसा सिद्ध होता है। भगवान् सर्वज्ञदेवने भी कहा है कि:—जो लोग धन चाहते हैं, धर्म उनके लिये धनका देनेवाला है, जो काम चाहते हैं, उनके लिये सब प्रकारके कामका (इन्द्रियोंके विषयोंका) देनेवाला है और जो मोक्ष चाहते हैं, उन्हें क्रम क्रमसे मोक्षका भी प्राप्त करा देनेवाला है। अतएव हम कहते हैं कि धर्मकी अपेक्षा अन्य कोई भी पुरुपार्थ मुख्य नहीं है।

धर्माख्यः पुरुषार्थोऽयं प्रधान इति गम्यते।
पापग्रस्तं पशोस्तुल्यं धिग्धर्मरहितं नरम्॥

अर्थात्—यह धर्म नामका पुरुषार्थ ही सबसे प्रधान जान पड़ता है। जो लोग पापोंसे ग्रसित हैं, और पशुओंके समान धर्मरहित हैं, उन्हें धिक्कार है।"

गुरुमहाराजका यह उपदेश सुनकर इस जीवने कहाः—"हे भगवन्! ये अर्थ और काम पुरुषार्थ तो जिनका कि आप पहले

वर्णन कर चुके हैं; साक्षात् दिखलाई देते हैं, परन्तु आपके पीछेसे कहे हुए धर्मपुरुपार्थको तो हमने कहीं भी नहीं देखा है। इसलिये इसका जो स्वरूप हो, उसे वतलाइये।" धर्माचार्य्य वोले:— हे भद्र! जो प्राणी मोहके मारे अन्धे हो रहे हैं, वे इस धर्मको नहीं देख सकते हैं। परन्तु विवेकियोंके लिये तो यह विलकुल प्रत्यक्ष है। सामान्यतासे धर्मके तीन रूप दिखलाई देते हैं, कारण, स्वभाव और कार्य। अच्छे कार्योंका करना (सदनुष्ठान) कारण है, सो तो सवहीको दिखता है और स्वभाव है, सो दो प्रकारका है, एक साश्रव और दूसरा अनाश्रव। जीवमें शुभ कर्मपरमाणुओंके संग्रह होनेको साश्रव कहते हैं और पूर्वके कमाये हुए कर्मपरमाणुओंके झड़ जानेको अनाश्रव कहते हैं। कर्मके इन दोनों स्वभावोंको योगीजन तो प्रत्यक्षरूपसे देखते हैं और हम जैसे पुरुप अनुमानसे देखते हैं। और सम्पूर्ण प्राणियोंमें जो सुन्दर विशेपताएं (अच्छे सुखसाधनोंकी प्राप्ति) दिखलाई देती है, सो धर्मका कार्य हैं। ये विशेपताएं प्रत्येक प्राणीमें होती हैं, इसलिये धर्मका कार्य वहुत अच्छी तरहसे दिखलाई देता है। इस तरहसे धर्मके ये कारण, स्वभाव और कार्यरूप तीन धर्म दिखलाई देते हैं, सो क्या तुमने नहीं देखे हैं, जो कहते हो कि, मैंने धर्मपुरुपार्थको कहीं नहीं देखा है। यह कारण स्वभाव और कार्यरूप तीसरा पुरुपार्थ ही धर्म कहलाता है। केवल इतनी विशेपता है कि, धर्मके जो तीन रूप हैं, उनमें पहला जो कारणरूप सदनुष्ठान है, उसे ही कारणमें कार्यका उपचार करके धर्म कहते हैं। जैसे कि समयपर पानी वरसते देखकर लोग कहते हैं कि, 'वर्षा चावल वरसा रही है।' अभिप्राय यह कि, यथार्थमें वर्षा पानी वरसाती है, परन्तु वह पानी

चावलोंकी उत्पत्तिका कारण है, इसलिये कारणमें कार्यका उपचार करके पानी बरसनेको चावल बरसना कहते हैं। और स्वभावके भेदोंमें जो साश्रव स्वभाव कहा है, उसे 'पुण्यानुबंधीपुण्यरूप' समझना चाहिये, और जो अनाश्रव कहा है, उसे निर्जरारूप समझना चाहिये। दोनों ही प्रकारके स्वभाव किसी भी प्रकारके उपचारके विना साक्षात् धर्म ही कहलाते हैं। इसी प्रकारसे जीवोंमें जो समस्त सुंदर विशेषताएं होती हैं, अर्थात् निरोगता, विद्वत्ता ऐश्वर्यता आदि अन्तर होते हैं, उन्हें कार्यमें कारणके उपचारसे धर्म कहते हैं। जैसे यह मेरा शरीर पुराना कर्म है। इस उदाहरणमें यद्यपि पुराने कर्म शरीररूप कार्यके कारण हैं। परन्तु शरीरमें कर्मरूप कारणका आरोप करके उसे कर्म ही कहते हैं।

यह सुनकर जीव बोला:—हे भगवन्! धर्मके इन तीन भेदोंमेंसे पुरुषको कौनसा भेद ग्रहण करना चाहिये?

धर्मगुरु—सदनुष्ठान (शुभ आचार) ही उपादेय वा ग्रहण करनेके योग्य है। क्योंकि वह दूसरे दोका भी अर्थात् स्वभाव और कार्यका भी सम्पादन करनेवाला है।

जीव—सदनुष्ठानके कितने भेद हैं?

धर्मगुरु—हे सौम्य! सदनुष्ठानके दो भेद हैं, एक साधुधर्म (यतिधर्म वा अनगारधर्म) और दूसरा गृहीधर्म (सागार वा श्रावकधर्म) और इन दोनोंका मूल सम्यग्दर्शन है।

जीव—हे भगवन्! आप सम्यग्दर्शनका उपदेश पहले दे चुके हैं, परन्तु उस समय मैंने ध्यान नहीं दिया था। इसलिये अब कहिये कि, उसका क्या स्वरूप है?

---

१ इसका स्वरूप पृष्ठ ९८ में कहा जा चुका है।

यह सुनकर धर्माचार्य महाराजने जीवकी प्रथमावस्थाके[१] योग्य जो सम्यग्दर्शनका स्वरूप है, उसको संक्षेपमें कहना प्रारंभ किया:– हे भद्र! जो रागद्वेषमोहआदि दोषोंसे रहित, अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य और अनन्तसुखस्वरूप, और सारे संसारके जीवोंपर दया करनेमें तत्पर रहनेवाले सकल[२]–निष्कल रूप परमात्मा हैं, वे ही सच्चे देव हैं; ऐसी बुद्धिसे उनकी जो भक्ति करना है, तथा उनके ही कहे हुए जो जीव–अजीव–पुण्य–पाप–आश्रव–बंध–संवर–निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ हैं, सो ही सच्चे हैं, ऐसा जो विश्वास होना है, और उन्होंने जिस सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्गका प्रतिपादन किया है, उसके अनुसार चलनेवाले मुनि ही वन्दनीय हैं, ऐसी जो बुद्धि है, सो ही सम्यग्दर्शन है। भावार्थ यह है कि, वीतरागदेव, उनके कहे हुए तत्त्व और उनके चारित्रके पालनेवाले मुनि, इन तीनोंकी श्रद्धा भक्ति करनेको सामान्य सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य[३] इन पांच बाहिरी चिन्होंसे जाना जाता है कि, अमुक जीवमें है या नहीं। और इसे जो जीव अंगीकार करता है, वह (सम्यग्दृष्टी जीव) जीव मात्रसे मित्रता रखता है, अपनेसे जो गुणोंमें अधिक होते हैं, उन्हें देखकर हर्षित होता है, दुखियोंपर करुणा करता है, और जो अपना अविनय वा अनादर करते हैं, उनसे

---

१ परिणामोंकी मलिनता और उज्ज्वलताकी अपेक्षा जीवकी अनेक अवस्थाएं होती हैं, इसलिये उन अवस्थाओंमें धारण करनेकी योग्यताके अनुसार सम्यग्दर्शन भी निश्चय व्यवहार तथा सामान्य विशेषकी अपेक्षा अनेक प्रकारका होता है। २ स–कल अर्थात् शरीरसहित परमात्मा तीर्थंकरदेव और निष्कल अर्थात् शरीररहित परमात्मा सिद्ध भगवान्। ३ देव गुरु और धर्मकी श्रद्धाको आस्तिक्य कहते हैं।

मध्यस्थ रहता है। इस तरह मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओंको भाता है। स्थिरता, भगवानके आयतनोंकी सेवा, आगमकुशलता (शास्त्रकी चतुराई), भक्ति, और जिनवाणीकी प्रभावना ये पांच भाव सम्यग्दर्शनको प्रकाशित करते हैं और शंका,[1] आकांक्षा,[2] विचिकित्सा,[3] पाखंडियोंकी प्रशंसा[4] और स्तुति[5] ये पांच भाव (अतीचार) दूपित करते हैं अर्थात् इनसे सम्यग्दर्शन मलिन होता है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप है और विशुद्ध सम्यग्दर्शन आत्माका केवल एक परिणाम है, जो दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय उपशम तथा क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है और समस्त कल्याणोंको करता है।

भगवान् धर्माचार्यके इस प्रकार कहनेपर इस जीवके हृदयमें भले प्रकार विश्वास हो गया और उस विश्वासके अनुभवसे ही उसके क्लिष्ट कर्मोंका मल नष्ट होकर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गई। धर्मगुरुने जो इस प्रकार तत्त्वोंमें प्रीति अर्थात् श्रद्धान उत्पन्न कराया, सो वलपूर्वक पिलाये हुए उत्तम तीर्थजलके समान समझना चाहिये। क्योंकि जिस तरह तीर्थजलके पीते ही उस भिखारीका महाउन्माद क्षीण तथा उपशान्त हो गया, उसी प्रकारसे तत्त्वार्थ श्रद्धानके होते ही इस जीवका जो मिथ्यात्वकर्म उदय अवस्थामें था, वह क्षीण हो गया और जो उदयमें नहीं आया था अनुदीर्ण था, उसका उपशम हो गया। परन्तु तो भी प्रदेशानुभवसे उसका अनुभवन होता

---

१ भगवान्‌के कहे हुए तत्त्वोंमें सन्देह करना। २ इस लोक और परलोकसम्बन्धी भोगोंकी वांछा करना। ३ अनिष्ट पदार्थोंको देखकर ग्लानि करना। ४ मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानचारित्रादि गुणोंको मनसे प्रगट करना। ५ वचनोंसे प्रगट करना।

रहा। अर्थात् मिथ्यात्वकर्मकी कितनी ही प्रकृति ऐसी हैं, कि उनका विपाक तो नहीं भोगना पड़ता, परन्तु प्रदेशानुभव होता है, सो जीवकी उक्त अवस्थामें मिथ्यात्वका क्षय और उपशम होकर उसका प्रदेशानुभव होता रहा। यह मिथ्यात्वरूपी महा उन्माद अभीतक सर्वथा नष्ट नहीं हुआ है—नष्टप्राय हुआ है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर शेष सारे ही कर्म जो कि रोगरूप हैं, सूक्ष्म हो जाते हैं। और इससे जीवको सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे अन्य रोग भी हलके हो गये, ऐसा कहा है। और जिस तरह वह तीर्थजल शीतल था, तथा उससे वह भिखारी स्वस्थचित्त हो गया था, उसी प्रकारसे यह सम्यग्दर्शनपरिणाम चराचर जीवोंकी दुःखरूप दाहको मिटा देता है; इस कारण अत्यन्त शीतल है, और उसको प्राप्त करके यह जीव दुःखदाहसे रहित होकर स्वस्थचित्त जान पड़ता है।

तीर्थजल पीकर जब निष्पुण्यक स्वस्थचित्त हुआ तब सोचने लगा कि, "यह पुरुष मुझपर अतिशय स्नेह रखता है और महानुभाव है अर्थात् बहुत ऊंचे विचारोंवाला है, परन्तु मुझ मूर्खने पहले समझा था कि, यह ठग है और इस लोभ दिखलानेके प्रपंचसे मेरा भोजन छीन लेगा। इसलिये मुझ दुष्टचित्तको धिक्कार है। यदि यह मेरी भलाई करनेमें तत्पर न होता, तो अंजन आंजकर मेरी दृष्टिको क्यों अच्छी करता? और शीतल जल पिलाकर क्यों मुझे स्वस्थ वा शान्त करता? यह मुझसे बदलेमें अपनी कुछ भलाई नहीं चाहता है। इसकी तो महानुभावता ही ऐसी है कि, वह इसे मेरी भलाई करनेमें तत्पर करती है।" ऐसा जो पहले दरिद्रीके वर्णनमें कहा गया है; सो जीवके विषयमें भी घटित होता है। क्योंकि, सम्यग्द-

र्शनके होनेपर यह जीव भी धर्माचार्य महाराजके विषयमें ऐसा ही चिन्तवन करता है। उस समय पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप ज्ञान जानेसे यह जीव रौद्रताको (भीषणताको) छोड़ देता है, मदान्धतासे रहित हो जाता है, अतिशय कुटिलताको दूर कर देता है, गाढ़े लोभका त्याग कर देता है, रागकी उत्कटताको शिथिल कर देता है, किसीसे विशेष द्वेष नहीं करता है, और महामोहके दोषोंको दूर फेंक देता है। ऐसी अवस्थामें इसका मन प्रसन्न होता है, अन्तरात्मा निर्मल होता है, बुद्धिकी चतुराई बढ़ती है, सोना चांदी धन स्त्री आदि पदार्थोंमें परमार्थ बुद्धि नहीं रहती है, जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंमें आग्रह होता है कि, 'ये ऐसे ही हैं,' और सम्पूर्ण दोष क्षीण हो जाते हैं। उस समय यह दूसरोंके गुणोंको जानता है, अपने दोषोंको देखता है, अपनी प्राचीन अवस्थाका स्मरण करता है, गुरुमहाराज जो उस समय इसके हितके लिये प्रयत्न करते हैं, उसे जानता है और इस प्रयत्नके माहात्म्यसे जो अपनी योग्यता हुई है, उसे समझता है। फल यह होता है कि, यह जो मुझ सरीखा जीव पहले अतिशय क्लिष्ट परिणामोंके कारण धर्मगुरु आदिके विषयमें भी नाना प्रकारके बुरे २ विकल्प करनेमें तत्पर रहता था, विवेकको पाकर सोचता है कि "अहो! मेरी पापिष्ठताका, महा मोहान्धताका, अभाग्यताका, कृपणताका, और अविचारताका क्या ठिकाना है, जिससे मैंने अतिशय तुच्छ धनके प्रेममें चित्तको उलझाकर जो निरन्तर दूसरोंका उपकार करनेमें लवलीन रहते हैं, जिनके शरीरका दोषरहित सन्तोषसे ही पोषण होता है, जिनका अन्तःकरण मोक्षसुखरूप अविनाशी धनका उपार्जन करनेमें तत्पर रहता है, जो संसारके विस्तारको तुषोंकी मुट्ठीके समान सर्वथा

सारहीन समझते हैं और अपने शरीरपंजरमें भी जिन्हें कुछ ममत्व नहीं होता है, उन ज्ञानवान् धर्मगुरु आदि साधुओंके विषयमें पहले ऐसे अनेकवार संकल्प विकल्प किये कि, 'क्या ये इन धर्मकथादिकोंका ढोंग फैलाकर ठग लेंगे और मेरा सोना चांदी धन आदि सबकुछ छीन लेंगे' छिः! उन मेरे नीचसे नीच बुरे विकल्पोंको धिक्कार है। यदि ये भगवान् मेरा परमोपकार करनेमें तत्पर न होते, तो सुमतिरूप नगरमें पहुंचनेके सुन्दर और निर्दोष मार्गको बतलाते हुए सम्यग्ज्ञानका दान देनेके वहाने मेरी घोर नरकमें ले जानेवाली चित्तवृत्तिको क्यों रोकते? और विपर्यास भावसे (मिथ्यादर्शनसे) मारी हुई मेरी चित्तवृत्तिको अपनी बुद्धिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त कराके उसके द्वारा सब प्रकारके दोषोंसे मुक्त क्यों करते? ये अपनी अतिशय निस्पृहतासे मिट्टीके ढेलेको और सुवर्णको बराबर समझनेवाले और पराई भलाई करनेमें इस तरह प्रवृत्त रहनेवाले हैं जैसे कि इन्हें इसका व्यसन हो गया है; और जिसका उपकार करते हैं, उससे कभी प्रत्युपकारकी आशा नहीं रखते हैं। हम सरीखे लोगोंसे ऐसे इन परोपकारी महात्माओंका अपना जीवन देकर भी प्रत्युपकार नहीं किया जा सकता है, फिर धनधान्यादिकी तो बात ही क्या है?" इस प्रकारसे जब इस जीवको सम्यग्दर्शन होता है, तब यह पहले किये हुए अपने दुराचारोंके स्मरणसे पश्चात्ताप करता है, सन्मार्गके बतलानेवाले गुरुओंपर जो उलटी शंकाएँ होती थीं, उन्हें छोड़ देता है और उस समय ऊपर कहे अनुसार कहता है।

जीवके ये विकल्प दो प्रकारके होते हैं। जिनमेंसे एक प्रकारके विकार कुशास्त्रोंके सुननेकी वासनासे होते हैं। जैसे यह त्रिभुवन अंडेसे

उत्पन्न हुआ है, ब्रह्मादि देवोंका बनाया हुआ है, प्रकृतिका विकार है, क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाला है, विज्ञान मात्र है, और शून्यरूप है, इत्यादि। ऐसे विकल्पोंको आभिसांस्कारिक कहते हैं। और दूसरे प्रकारके विकल्प जिन्हें कि, सहज कहते हैं उन जीवोंके उत्पन्न होते हैं, जो सुखकी चाह करते हैं, दुःखोंको नहीं चाहते हैं, धन दौलतमें परमार्थबुद्धि रखते हैं, और इसलिये उनकी रक्षामें तत्पर रहते हैं, तथा यथार्थ मार्गको नहीं जानते हैं। इन कुविकल्पोंके कारण यह जीव जिनके विषयमें शंका नहीं करना चाहिये, उनके विषयमें शंका करता है, जो नहीं सोचना चाहिये, वह सोचता है, जो नहीं कहना चाहिये, वह कहता है और जो नहीं करना चाहिये, वह आचरण करता है। इनमें जो आभिसांस्कारिक विकल्प हैं, वे तो ऐसे हैं कि, सुगुरुओंके संगमसे कभी २ दूर हो जाते हैं, परन्तु जो सहज विकल्प हैं, वे जबतक इस जीवकी बुद्धि मिथ्यात्वसे युक्त रहती है, तबतक किसी भी तरहसे दूर नहीं हो सकते हैं—उत्कृष्ट अधिगमज सम्यक्त्वके उत्पन्न होनेपर ही इनसे छुटकारा मिलता है।

और जो कहा है कि, "यद्यपि इस अंजन और जल देनेवाले पुरुषमें निष्पुण्यकको विश्वास हो गया, और उसकी महोपकारिताका वह चिन्तवन करने लगा, तो भी उसे जो अपने कुभोजनसे अतिशय प्रेम था, वह उसकी गाढ़ भावनाके कारण जरा भी दूर नहीं हुआ।" सो इस जीवके विषयमें इस तरह योजित करना चाहिये:—

यद्यपि ज्ञानावरणीय और दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे तथा सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेसे जीवकी संसारके प्रपंचोंको ही परमार्थ (वास्तविक) समझनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, जीवादि सप्त तत्त्वोंमें आस्था हो जाती है और परमोपकारी होनेके

कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके दाता ज्ञानवान् धर्मगुरुओंको वह स्वीकार करता है, तो भी जब तक बारह कपाय उदय अवस्थामें रहते हैं, और जबतक नौ नोकपाय प्रबल रहते हैं, तबतक यह जीव अनादि संसारके अभ्यासकी वासनाके वशमें रहनेके कारण कुभोजनके समान स्त्रीधनविपयादि सम्बन्धी मूर्च्छाको निवारण नहीं कर सकता है और इससे इसे 'यह संसार एक बड़े भारी अंडेसे उत्पन्न हुआ है,' इत्यादि मूर्खताके विकल्प उठा करते हैं। और जो इसे धनादि पदार्थोंमें परमार्थबुद्धि होनेके कारण मिथ्यादर्शनके उदयसे सहज कुविकल्प होते हैं जिनसे कि यह उन धनधान्यादिकी रक्षा करनेके लिये नहीं शंका करने योग्य गुरु आदिके विपयमें शंका करता है, वे सब मरुदेशकी बालूका मुखचुम्बन करनेके समान तथा जल कल्लोलोंके प्रतिभासके समान हैं। ये विकल्प इनके विरुद्ध अर्थके प्रतिपादन करनेवाले प्रमाणोंसे बाधित होकर सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके समय नष्ट होते हैं। परन्तु जो धनविपयादिमें मूर्च्छा लक्षणवाला मोह है, वह कुछ अपूर्व ही है। क्योंकि वह दिशा भूले हुए पुरुषके समान तत्त्वबुद्धिके रहनेपर भी बराबर बना रहता है। इसी मोहसे मोहित होकर यह जीव सबको दाभकी अनीपर अटके हुए चंचल जलबिन्दुके समान जानता हुआ भी नहीं जानता है, धनका चोरा जाना, स्वजनोंका मरण होना आदि देखता हुआ भी नहीं देखता है, चतुरबुद्धि होकर भी जडबुद्धिके समान चेष्टा करता है और समस्त शास्त्रोंका ज्ञाता होकर भी महामूर्खचूडामणिके समान वर्तता है। इससे इसे स्वतंत्रता भाती है, स्वेच्छाचारिता रुचती है, व्रतनियमादिके कष्टोंसे डर लगता है, अधिक क्या उस समय यह कौएके मांसका भी त्याग नहीं कर सकता है।

आगे कथामें कहा है कि, " उस भिखारीको अतिशय राग भावके कारण अपने बुरे भोजनके ठीकरेपर बारबार दृष्टि डालते हुए देखकर और उससे उसका अभिप्राय समझकर भोजनालयके स्वामी धर्मबोधकरने कुछेक कठोरतासे वा निष्टुरतासे कहा कि, "अरे दुर्बुद्धि भिखारी ! तू यह कैसा उलटा आचरण कर रहा है ? यह कन्या तुझे प्रयत्नपूर्वक खीरका भोजन दे रही है, सो क्या तू नहीं जानता है ? मैं समझता हूं कि और बहुतसे पापी भिखारी होंगे, परन्तु तेरे समान अभागियोंका शिरोमणि एक भी नहीं होगा, जो कि अपने तुच्छ भोजनमें मनको लगाये हुए इस अमृतके समान मीठे परमान्नको मैं दिलवाता हूं, तो भी नहीं लेता है। जब तूने इस राजमन्दिरमें प्रवेश किया था, तब तुझे इसे देखकर कुछेक आनन्द हुआ था, और उस समय परमेश्वरकी दृष्टि भी तुझपर पड़ गई थी। इसीलिये हम तेरा आदर करते हैं, नहीं तो जो जीव इस राजमन्दिरसे बाहिर रहते हैं, और इस राजभवनको देखकर प्रसन्न नहीं होते हैं तथा जिनपर राजराजेश्वर सुस्थितकी दृष्टि नहीं पड़ती है, उनकी हम बात भी नहीं पूंछते हैं। हम तो अपने सेवकधर्मकी पालना करनेके लिये जो कोई महाराजका प्यारा होता है, उसीपर प्यार करते हैं। हमको यह विश्वास है कि, सुस्थितमहाराज अमूढलक्ष्य हैं—अर्थात् उनकी जांचमें कभी अन्तर नहीं पड़ता है। वे अपात्र पुरुषकी ओर कभी दृष्टि नहीं डालते हैं। परन्तु हमारे इस विश्वासको तू इस समय अपने विपरीत आचरणसे झूठा सिद्ध कर रहा है अर्थात् तू अपात्र जान पड़ता है। सो हे भाई ! अब तू विपरीतताको छोड़ दे, और अपने कुभोजनको फेंककर इस परमान्नको (खीरको) ग्रहण कर कि जिसके प्रभावसे इस राजमहलमें रहनेवाले समस्त

प्राणी अमृतसे संतुष्ट हुए जीवोंके समान आनन्दमग्न हो रहे हैं।"
धर्मगुरु भी इस जीवके विषयमें इसी प्रकार कहते और समझाते हैं।
यथाः—

जब यह जीव सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके आविर्भाव होनेपर भी कर्मोंकी परतंत्रताके कारण थोड़ीसी भी विरतिको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् किंचित् भी त्याग नहीं कर सकता है, तब इसे इस प्रकार विषयोंमें गहरी मूर्छाके कारण लवलीन हुआ देखकर धर्माचार्य विचार करते हैं कि, आत्माके साथ इसकी कैसी शत्रुता है? रत्नद्वीपमें पहुंचे हुए अतिशय अभागी पुरुषके समान यह अनमोल रत्नोंके सदृश व्रत नियमादि आचरणोंका तिरस्कार करके उन्हें कुछ भी न समझकर काचके टुकड़ोंके समान विषयोंमें क्यों अपने चित्तको उलझाता है? उस समय गुरुमहाराज इस प्रमादमें तत्पर हुए जीवपर प्रणयकोप (स्नेहयुक्त क्रोध) करते हुए कहते हैं;— "हे ज्ञानदर्शनको दोष लगानेवाले! तेरी यह कैसी अनात्मज्ञता है जो हम वारंवार चिल्लाते हैं—समझाते हैं, परन्तु तू उसपर ध्यान नहीं देता है। हमने बहुतसे अकल्याणके भाजनरूप अभागी प्राणी देखे हैं, परन्तु तू उन सबका शिरोमणि है। क्योंकि तू भगवानके वचनोंको जानता है, जीवादि नव पदार्थोंपर तेरी श्रद्धा है, हम सरीखे उत्साहित करनेवाले तेरे पास हैं, तू यह जानता है कि, इस प्रकारकी सब सामग्री मिलना अतिशय कठिन है, संसारकी दुरन्तताकी तू भावना भाया करता है, कर्मोंकी दारुणताको अच्छी तरहसे जानता है, और रागादि कैसे भयंकर हैं यह समझता है; तो भी तू समस्त अनर्थोंकी प्रवृत्ति करनेवाले, थोड़े दिन रहनेवाले, और तुषों-की (धान्यके छिलकोंकी) मुट्ठीके समान सारहीन विषयोंमें निरन्तर

लवलीन रहता है। तुझे अनर्थोंके गड्ढेमें पड़ते हुए देखकर हम जो समस्त क्लेशोंकी नाश करनेवाली भगवती समस्तपाप-विरतिका (महाव्रतोंका) उपदेश करते हैं, सो उसकी ओर तू भूल करके भी नहीं देखता है। और तेरा इसपर भी ध्यान नहीं है कि, हम तेरा किस लिये इतना अधिक आदर करते हैं। सुन: इसका कारण यह है कि तू सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानयुक्त होनेके कारण सर्वज्ञशासनके भीतर आ गया है और पहिले ही पहिल भगवानका शासन देखकर भी तुझे आनन्द हुआ था। इससे जब हमने देखा कि, परमात्माने तुझपर दृष्टि डाली है, तब समझा कि, परमात्माका तुझपर अनुग्रह है और इस लिये तुझपर हमारा आदरभाव हुआ। क्योंकि भगवान्के सेवकोंको भगवान्के प्यारेका पक्षपात करना योग्य ही है। और जो अबतक सर्वज्ञशासन मन्दिरके भीतर नहीं आये हैं, अथवा किसी तरह आये हैं परन्तु उसके दर्शनसे प्रसन्न नहीं हुए हैं, उन अनन्त जीवोंको परमात्माकी दृष्टिसे बाह्य समझकर हम देखते हुए भी उदासीनता धारण कर लेते हैं. क्योंकि वे आदर करनेके योग्य नहीं हैं। इस विषयमें (पात्रापात्रकी परीक्षा करनेकी ऊपर कही हुई युक्तिमें) हमारा अभीतक विश्वास था और सन्मार्गमें आने योग्य कौन २ जीव हैं, इसका हम इसी उपायसे निश्चय करते थे। इसके सिवाय जिन २ जीवोंकी इस उपायसे परीक्षा की गई है, वे कभी विरुद्ध सिद्ध नहीं हुए हैं। परन्तु तेरे इस विपरीत आचरणसे हमारा अच्छी तरहसे निश्चित किया हुआ भी उपाय व्यभिचारी (झूठ) हुआ जाता है। इससे हे दुर्मते! ऐसा मत कर। हम जो कहते हैं, उसे अब भी मान ले। इस दुःशीलताको छोड़ दे, दुर्गतिरूपी नग-रीके जानेके मार्ग समान अविरतिको (हिंसादि पापोंको) त्याग दे और

निर्द्वन्द्व आनन्दकी देनेवाली सर्वज्ञकी कही हुई, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानकी फलस्वरूपा विरतिको (त्यागको) धारण कर, नहीं तो परमार्थदृष्टिसे ये ज्ञानदर्शन भी निष्फल हो जावेंगे। क्योंकि चारित्रके विना अकेले दर्शन और ज्ञान मोक्षके साधक नहीं हैं। यह भागवती विरति यदि ग्रहण की जाय और भले प्रकारसे पालन की जाय, तो सारे ही कल्याणोंका सम्पादन कर देती है। और पारलौकिक कल्याणोंको तो रहने दो—उनकी तो वात ही दूसरी है, इस लोकमें ही इन साधुओंको क्या तुम नहीं देखते हो, जो भगवानकी कही हुई विरतिमें (महाव्रतोंमें) लवलीन रहते हैं और उसके कारण अनन्त अमृतरसका पान करने वालेके समान स्वस्थ रहते हैं। वे निरन्तर मनसे अनुभव करते हैं (?) उनकी कामवासना नष्ट हो जाती है, इसलिये विषयोंकी अभिलाषासे उत्पन्न होनेवाली उत्सुकता और प्रियविरहकी वेदनाको जानते भी नहीं हैं, कषायहीनताके कारण लोभसे उत्पन्न होनेवाले धनके कमाने, रखाने और नष्ट हो जानेके दुःखोंसे अनभिज्ञ हैं, तीनों भुवनके जीव उनकी वन्दना करते हैं और अपने आत्माको वे संसारके पार पहुंचा हुआ मानते हैं। अभिप्राय यह कि, वे सब प्रकारसे आनन्दित रहते हैं। फिर ऐसे २ गुणोंवाली विरतिको आत्मशत्रुताके कारण तू क्यों ग्रहण नहीं करता है?"

आगे कथामें कहा गया है कि, धर्मबोधकरके इस प्रकार वचन सुनकर यद्यपि दरिद्रीको उसपर (धर्मबोधकरपर) विश्वास हुआ और यह निश्चय हो गया कि यह पुरुष मेरा अत्यन्त हितकारी है परन्तु अपने कुभोजनको छुड़ानेके वचन सुनकर वह विह्वल सरीखा हो गया और दीनतासे बोला कि, "हे नाथ! आप जो कहते हैं, उसे मैं सत्य समझता हूं, परन्तु केवल एक बात कहता हूं, उसे

सुन लीजिये। आप जो मेरे इस भोजनको छुड़ाना चाहते हैं, सो यह मुझे प्राणोंसे भी प्यारा लगता है। मैं इसे छोड़कर क्षणभर भी नहीं जी सकता हूं। मैंने बड़े भारी कष्टसे इसे उपार्जन किया है। कालान्तरमें भी मेरा इससे निर्वाह होगा। परन्तु आप जो भोजन मुझे देते हैं, उसका मैं स्वरूप नहीं जानता हूं। मैं सोचता हूं कि, इस एक दिनके मिले हुए भोजनसे मेरा कैसे निर्वाह होगा? इस विषयमें और अधिक कहनेसे क्या? मेरा यह निश्चय है कि, इस भोजनको नहीं छोडूंगा। यदि मेरे इस भोजनके रहते हुए आप अपना भोजन देना उचित समझते हैं, तो दे दीजिये, नहीं तो मैं उसे विना लिये ही यहांसे चला जाऊंगा।" इस कथनकी योजना जीवके विषयमें इस प्रकारसे करना चाहिये:—

यह जीव भी कर्मोंकी परतंत्रताके कारण चारित्रपरिणामके नहीं होनेसे धर्मगुरुके आगे इसी प्रकार कहता है। इस समय इसे यद्यपि गुरुओंके विषयमें विश्वास हो जाता है और ज्ञानदर्शनके होनेसे भली भांति प्रतीति हो जाती है। परन्तु धनादिमें जो गहरी मूर्छा होती है, वह नष्ट नहीं होती है। जब धर्मगुरु चारित्र ग्रहण कराते हुए उसका (मूर्छाका) त्याग कराते हैं, तब यह जीव दीन होकर कहता है कि, "हे भगवन्! आप जो कुछ कहते हैं वह सब सच है, परन्तु आपको मेरी एक प्रार्थना सुन लेना चाहिये। मेरा आत्मा धनविषयादिकोंमें अतिशय गीधा हुआ है, इसलिये मैं उन्हें किसी प्रकारसे भी नहीं छोड़ सकता हूं। यह निश्चय समझिये कि मैं इन्हें मरनेपर छोड़ सकूंगा। जिन्हें (धनादिकोंको) मैंने बड़े भारी क्लेशसे एकत्र किये हैं, उन्हें एकाएक असमयमें कैसे छोड़ दूं? हम सरीखे प्रमादी आपकी बतलाई हुई विरतिका स्वरूप ही नहीं

समझ सकते हैं। और ये धनादि पदार्थ तो हम सरीखोंको काला-न्तरमें भी प्रसन्न करते हैं, परन्तु आपकी बतलाई हुई विरति तो 'राधावेधके' समान दुष्प्राप्य और कठिन है—कचित् ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। इसलिये आपका यह आग्रह हम सरीखोंके लिये तो अयुक्त ही है—हम इसके पात्र नहीं हैं। कहा भी है:—

> महतापि प्रयत्नेन तत्त्वे शिष्टेपि पण्डितैः।
> प्रकृतिं यान्ति भूतानि प्रयासस्तेषु निष्फलः॥

अर्थात् पंडितोंके द्वारा बड़े भारी प्रयत्नसे समझाये हुए भी तत्व सुनकर जो जीव प्रकृतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ते हैं—जैसेके तैसे बने रहते हैं, उनके विषयमें परिश्रम करना निष्फल है।

ऐसी दशामें भी यदि आपका आग्रह हो और अपना चारित्र देना ही हो, तो मेरे जो ये धनविषयादि हैं इन्हें रहते हुए ही दे दीजिये, अन्यथा जाने दीजिये मुझे आवश्यकता नहीं है।"

जीवके इस प्रकार कहनेपर जैसे उस धर्मबोधकरने भिखारीको खीरका भोजन ग्रहण करनेसे विमुख देखकर विचार किया था कि, "अहो! देखो इस मोहकी सामर्थ्यको जो यह भिखारी अपने सारे रोगोंके करनेवाले बुरे भोजनपर तो लट्टू हो रहा है, और मेरे उत्कृष्ट खीरके भोजनका अनादर करता है। परन्तु मैंने तो पहले ही निश्चय कर लिया है कि, इसमें इस बेचारेका नहीं किन्तु इसके चित्तको व्याकुल करनेवाले रोगादिकोंका ही दोष है। इसलिये अब इस बेचारेको फिरसे समझाना चाहिये जिससे यह चित्तको ठिकाने लाकर परमान्नको ग्रहण कर लेवे। क्योंकि इसके खानेसे इसका महान् उपकार होगा।" इसी प्रकारसे धर्मगुरु भी सोचते हैं कि,

" अहो ! इस जीवका महामोह एक अपूर्व ही प्रकारका है कि जिसके कारण यह रागादि भाव रोगोंकी वृद्धि करनेवाले और अनन्त दुःखोंके कारणरूप धनादि विषयोंमें बुद्धिको उलझाकर भगवानके वचनोंको जानता हुआ भी अजानके समान, जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करता हुआ भी अश्रद्धानीके समान मेरी उपदेश की हुई विरतिको जो कि सारे क्लेशोंका नाश करनेवाली है, नहीं अंगीकार करता है। परन्तु इसमें इस दीनका दोष नहीं है—सब कर्मोंकी लीला है। ये कर्म ही इसके शुभ परिणामोंको बिगाड़ देते हैं। अतएव हमें जो कि इसको प्रतिबोधित करनेके लिये—समझानेके लिये प्रवृत्त हुए हैं 'यह चारित्र ग्रहण नहीं करेगा' ऐसा समझकर विरक्त नहीं हो जाना चाहिये—प्रयत्न बराबर करते रहना चाहिये। कहा भी है;—

> **अनेकशः कृता कुर्याद्देशना जीवयोग्यताम्।**
> **यथा स्वस्थानमाधत्ते शिलायामपि मृद्घटः॥ १**
> **यः संसारगतं जन्तुं बोधयञ्जिनदेशिते।**
> **धर्मे हितकरस्तस्मान्नान्यो जगति विद्यते॥ २**

अर्थात् अनेक बार दिया हुआ उपदेश जीवमें योग्यता उत्पन्न कर देता है। जैसे मिट्टीका घड़ा वारंवार रक्खे जानेपर शिलाके ऊपर भी अपने ठहरनेका स्थान बना लेता है। जो संसारी प्राणियोंको जिनप्रणीत धर्मका प्रतिबोध करता है, जगत्में उसके समान हितकारी अन्य कोई नहीं है। विरति सबसे उत्कृष्ट धर्म है। यदि वह हमारे द्वारा इस जीवको प्राप्त हो जाय—अर्थात् यह चारित्र धारण कर लेवे, तो इस प्रयत्नकी सफलतासे हमें और क्या प्राप्त करना बाकी रहेगा? हम समझेंगे कि, हमने सब कुछ पा लिया। और भी कहा है:—

महान्तमर्थमाश्रित्य यो विधत्ते परिश्रमम्।
तत्सिद्धौ तस्य तोषः स्यादसिद्धौ वीरचेष्टितम् ॥ ३

अर्थात् जो पुरुष किसी बड़े कार्यके लिये परिश्रम करता है, उसे दोनों ही प्रकारसे लाभ होता है। कार्य सिद्ध हो जानेपर तो उसे संतोष होता है, और सिद्ध नहीं होनेपर उसकी बहादुरी समझी जाती है। इसलिये इसे फिर जैसे बने तैसे सुन्दर मनोहर वचनोंके द्वारा विश्वास दिलाकर समझाऊं।" ऐसा गुरुमहाराजने अपने मनमें निश्चय किया।

आगे रसोईघरके स्वामी धर्मबोधकरने उस भिखारीको फिर भी समझाया, कुभोजनके सारे दोष दिखलाये, युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया कि, वह त्यागने योग्य है, तथा वह जो समझता था कि, आगे भी इससे मेरा निर्वाह होगा, उसको गलत बतलाया, और अपने खीरके भोजनकी प्रशंसा करके कहा कि, 'वह निरन्तर दिया जायगा,' और पहले महाप्रभावशाली अंजन और जलके दानसे जो उसे लाभ हुआ था, उसे प्रगट करके अपनेपर अतिशय विश्वास उत्पन्न कराया। अन्तमें कहा कि "हे भाई! अब अधिक कहनेसे क्या? अपने कुत्सित भोजनको फेंक दे और हमारे इस अमृतके समान परमान्नको ग्रहण कर।"

धर्माचार्य भी इसी प्रकार सब कुछ करते हैं। वे जीवको समझाते हैं कि, धन विषय स्त्री आदि रागद्वेषादिके कारण हैं, बतलाते हैं कि वे कर्म संचय करनेके हेतु हैं, प्रगट करते हैं कि दुरन्त (दुःखसे जिसका अन्त हो) और अनन्त संसारके निमित्तभूत हैं, और कहते हैं कि, "हे भद्र इन धनविषयादिकोंका क्लेशसे उपार्जन होता है, क्लेशसे ही अनुभवन होता है और आगामी कालमें भी

इनका परिपाक क्लेशरूप होता है । अतएव ये सर्वथा छोड़ देनेके योग्य हैं। इसके सिवाय हे भद्र! तेरा चित्त मोहके कारण विपर्यास भावको प्राप्त हो रहा है, इसलिये तुझे ये धनादि विषय सुन्दर मालूम होते हैं, परन्तु जब तू चारित्ररसका आस्वादन करेगा, तब हमारे विना कहे ही इन्हें किंचित् भी नहीं चाहेगा। "को हि सकर्णकोऽमृतं विहाय विषमभिलषति" अर्थात् ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो अमृतको छोड़कर विषकी अभिलाषा करेगा? और हमारे उपदेशसे पाये हुए चारित्र परिणामको जो तू कभी २ प्राप्त होनेके कारण अनिर्वाहक मानता है और धन विषय स्त्री आदिको प्रकृति भावमें रहनेसे तथा सदा होनेसे निर्वाहक मानता है, सो भी मत मान। क्योंकि जो धर्महीन पुरुष हैं, उनके धनादि भी सदा नहीं रहते हैं। और यदि कहीं रहते हों, तो भी बुद्धिमान् पुरुषोंको उनका निर्वाहकपना अंगीकार नहीं करना चाहिये। क्योंकि अपथ्य अन्नको चाहे वह सदाकाल रहनेवाला हो, सारे रोगोंको प्रकुपित करनेवाला होनेके कारण निर्वाहक नहीं कह सकते हैं। अतएव सम्पूर्ण अनर्थोंके प्रवर्तक धन विषय स्त्री आदिमें निर्वाहकताका ज्ञान अच्छा नहीं है। और यह जीवका स्वभाव भी नहीं है। क्योंकि जीव अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य और अनन्तसुखस्वरूप है। जो तत्त्ववेदी अर्थात् यथार्थज्ञानी हैं, वे समझते हैं कि जीवका जो इन धनविषयादिकोंमें स्नेह होता है, वह कर्मरूपी मलसे उत्पन्न हुआ एक प्रकारका विभ्रम वा विभाव है—जीवका स्वभाव नहीं है। चारित्रपरिणाम तबतक कादाचित्क अर्थात् कभी २ होनेवाला है, जबतक जीवका वीर्य (पराक्रम) उल्लसित नहीं होता है। परन्तु जब वीर्य प्रगट हो जाता है, तब वह ही निर्वाहक हो सकता

है। इसलिये विद्वानोंको चारित्र प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। इस चारित्रके बलसे ही महात्मागण परीषहों और उपसर्गोंका सहन करते हैं, धनादिकोंका तिरस्कार करते हैं, रागादि दोषोंका दलन करते हैं, कर्मोंको जड़से उखाड़ते हैं, संसार सागरको तिरते हैं और निरन्तर आनन्दमय मोक्ष-धाममें अनन्तकाल तक निवास करते हैं। और हमने जो तुझे ज्ञान दिया है, उससे क्या तेरा अज्ञान अंधकार नष्ट नहीं हुआ है? तथा जो दर्शनकी प्राप्ति कराई है, उससे क्या तेरे विपर्यास(मिथ्यात्व) रूपी दैन्यका नाश नहीं हुआ है? जिससे अब भी तू हमारे वच-नोंका विश्वास नहीं करके विकल्प कर रहा है। हे भद्र! अब इन संसारके बढ़ानेवाले धनादि विषयोंको छोड़कर हमारी दयाके दिये हुए इस चारित्रको अंगीकार कर, जिससे तेरे सारे क्लेशोंका नाश हो जाय और शाश्वत मोक्षकी प्राप्ति हो जाय।"

धर्मबोधकरके इस प्रकार बड़े प्रयत्नपूर्वक समझानेपर भी भि-खारीने कहा कि, "मैं अपने इस भोजनको नहीं छोड़ सकता हूं। यदि आप इसके रहते हुए अपना भोजन देना चाहते हैं, तो दीजिये।" निष्पुण्यक भिखारीके समान यह जीव भी धर्मगुरुओंके वारंवार कहनेपर भी गलि (गरियाल, कायर) बैलके सदृश पैर फैलाकर कहता है कि, "हे भगवन्! मैं धन विषयादिको किसी भी प्रकारसे नहीं छोड़ सकता हूं। इसलिये यदि इनके (धनादिके) रहते हुए ही कोई चारित्र बन सकता हो, तो दीजिये।"

भिखारीका ऐसा आग्रह देखकर धर्मबोधकरने विचार किया, कि, "अब इसको समझानेका और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसलिये यह भले ही अपना कुभोजन अपने पास रक्खे, परन्तु हमको

अपना परमान्न इसे दे देना चाहिये। पीछे जब यह इसके गुण जान लेगा, तब स्वयं अपना कुभोजन फेंक देगा।" ऐसा निश्चय करके उसने वह खीरका भोजन दे दिया और भिखारी उसे खा गया। उसके खानेसे निष्पुण्यककी भूख शान्त हो गई, रोग क्षीण हो गये, और पहले अंजन तथा जलसे जो सुख हुआ था, उससे बहुत अधिक सुख हुआ, मन प्रसन्न हुआ और भोजन देनेवाले पुरुषमें भक्ति हो गई; जिससे वह बोला—"मुझ भाग्यहीनपर भी आपने ऐसी दया की है, इसलिये आप मेरे नाथ हैं।"

धर्मगुरु भी इसी प्रकारसे जब देखते हैं कि, यह जीव हठके कारण धनविषयादि नहीं छोड़ सकता है, तब विचारते हैं कि, यह सर्वविरति (महाव्रत) नहीं ग्रहण कर सकता है, इसलिये अभी इसे देशविरति (अणुव्रत) ही ग्रहण करा दो। जब यह देशविरतिकी पालना करेगा, तब उससे विशेष गुणोंको पाकर स्वयं ही सर्वसंग (परिग्रह) का त्याग कर देगा। ऐसा विचार कर वे उसे देशविरति (अणुव्रत) ग्रहण करा देते हैं।

यहां उपदेश देनेके क्रमका निरूपण करते हैं:—पहले प्रयत्नपूर्वक सर्वविरतिका (महाव्रत) उपदेश देना चाहिये। पश्चात् यदि जीव उसके धारण करनेमें सर्वथा पराङ्मुख हो, अर्थात् सर्वविरति नहीं धारण करना चाहता हो, तो देशविरतिका निरूपण करना चाहिये वा देना चाहिये। यदि सबसे पहले देशविरतिका उपदेश दिया जावेगा, तो यह जीव उसीमें रक्त हो जायगा और उपदेशक साधुकी सूक्ष्मप्राणातिपातादि पापोंमें अनुमोदन समझी जावेगी। (इसका अभिप्राय यह है कि, मुनिजन पापोंके सर्वथा त्याग करनेका उपदेश देते हैं, परन्तु जब लोग सर्वथा त्याग नहीं कर

सकते हैं, तब वे कहते हैं कि, अच्छा, यदि सर्वथा नहीं हो सकता है, तुम्हारी शक्ति नहीं है, तो एकदेश करो * । स्त्री मात्रका सर्वथा त्याग नहीं कर सकते हो, तो पहले परस्त्रीका त्याग करो और स्वस्त्रीका सेवन करो । अब यहां जो स्वस्त्रीके सेवनका उपदेश है, सो विधिरूप नहीं, किन्तु सर्वथा त्यागके सम्मुख करनेकी सीढ़ीरूप है । परन्तु यदि यही उपदेश सर्वविरतिको पहले बतलाके नहीं किया जावे, पहले स्वस्त्रीके सेवनका ही उपदेश दिया जाय, तो उपदेश देनेवालेको उसकी अनुमोदनाके पापका भागी होना पड़ेगा)

इस प्रकारके देशविरतिके पालनको थोड़ेसे परमान्नभक्षणके समान जानना चाहिये । इस देशविरतिके पालनसे जीवकी विषयोंकी आकांक्षारूप भूख कुछ शान्त होती है, रागादि भावरोग क्षीण हो जाते हैं, ज्ञानदर्शनके प्राप्त होनेसे अर्गलके समान स्वाभाविक

---

* आचार्यवर्य अमृतचन्द्रने इसी विषयमें कहा है,—

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥ १७

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्साहमानोऽति दूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥ १९

भाव यह है कि, वारंवार सर्वविरतिका उपदेश देनेपर भी यदि कोई उसे ग्रहण न करे, तो फिर उसे देशविरतिका उपदेश देना चाहिये । जो मूर्ख यतिधर्मका (सर्वविरतिका) उपदेश नहीं देकर गृहस्थधर्मका (देशविरतिका) उपदेश देता है उसे भगवानके शासनमें दंड देनेके योग्य बतलाया है । क्योंकि उसके उस क्रमरहित उपदेशसे बहुत दूरतक उत्साहित हुआ भी शिष्य थोड़ेहीमें अर्थात् गृहस्थ धर्ममें ही तृप्त हो जाता है। इस तरह वह शिष्य उस मूर्ख उपदेशकसे ठगाया जाता है । [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय]

स्वस्थतारूप प्रशमसुखकी वृद्धि होती है, अच्छी भावनाओंसे मन प्रसन्न होता है और उसके देनेवाले गुरुओंपर इस भावनासे कि "ये मेरे बड़े उपकारी है" भक्ति उत्पन्न होती है। उस समय यह जीव कहता है कि, "हे भगवन्! आप ही मेरे नाथ हैं। क्योंकि आपने अपनी सामर्थ्यसे मुझे जो कि बुरी सारहीन लड़कीके समान अतिशय अकर्मण्य (निकम्मा) था, कर्मण्यताको प्राप्त करके गुणोंका पात्र बना दिया है।"

आगे धर्मबोधकरने भिखारीको बिठाकर मधुर वचनोंसे उसके चित्तको आल्हादित करते हुए राजराजेश्वरके गुणोंका वर्णन किया, 'हम उनके सेवक हैं' यह प्रगट किया और उसे भी राजाका सेवकपना स्वीकार करा दिया। फिर उसके हृदयमें राजाके विशेष गुणोंके जाननेका कुतूहल उत्पन्न किया, उनके जाननेके लिये व्याधियोंका क्षीण होना कारण बतलाया, व्याधियोंके क्षीण होनेके लिये पूर्वोक्त तीर्थजलादि तीनों औषधियां कारण बतलाई, क्षण क्षणमें उन औषधियोंके सेवन करनेका उपदेश दिया, उनके बारबार सेवन करनेसे राजराजेश्वरकी आराधना होती है और उनकी आराधनासे उनके ही समान महाराज्य प्राप्त होता है ऐसा प्रतिपादन किया। धर्मगुरु वा धर्माचार्य्य भी ज्ञानदर्शनसम्पन्न और देशविरतिके धारण करनेवाले जीवको बहुत ही उत्कृष्ट स्थिरता प्राप्त करानेके लिये इसी प्रकारके सब आचरण करते हैं।

वे जीवसे कहते हैं कि, "हे भद्र! तू ने जो यह कहा कि, 'तुम ही मेरे नाथ हो,' सो तुझ सरीखेके लिये तो यह युक्त ही है। परन्तु साधारण रीतिसे ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तेरे और हमारे सबहीके परमात्मा सर्वज्ञभगवान् परमनाथ हैं और

तीन लोकके चराचर जीवोंके पालक होनेके कारण वे ही वास्तविक नाथ हो सकते हैं। और जो उनके कहे हुए ज्ञान दर्शन और चारित्रप्रधान मतके अनुयायी हैं, उनके तो सर्वज्ञभगवान् नाथ हैं ही। इन्हीं भगवानकी सेवकाई अंगीकार करके महात्मागण केवल ज्ञानरूपी राज्यको पाकर सारे संसारको अपना सेवक बना लेते हैं। जो पापी जीव हैं, वे बेचारे इन भगवान्का नाम भी नहीं जानते हैं। भविष्यमें जिनका कल्याण होनेवाला है, ऐसे भव्य वा भाविभद्र जीव ही स्वकर्मविवरसे (कर्मोंके विच्छेद होनेसे) भगवानका दर्शन पाते हैं। तू इतनी सीढ़ियोंपर आरोहण कर चुका है, इससे तू ने भावसे तो भगवानको पा लिया है परन्तु उनकी प्राप्तिके जो तरतमता लिये हुए असंख्य गुणस्थान हैं उनपर तूने आरोहण नहीं किया है। सो उनके द्वारा तू भगवानको विशेषतासे प्राप्त कर लेवे, इसके लिये हमारा यह सब प्रयत्न है। क्योंकि भगवानको सामान्यतासे जाननेपर भी संसारी जीव सुगुरुओंकी सम्प्रदायके विना विशेषतासे नहीं जान सकते हैं।" इस प्रकारसे गुरु महाराज जीवके आगे भगवानके गुणोंका वर्णन करते हैं, आपको उनके सेवक बतलाते हैं, जीवको समझाते हैं कि, तू विशेषतासे भगवान्को ही अपना नाथ समझ, भगवान्के विशेष २ गुण प्रगट करके उसके चित्तमें कौतुक उत्पन्न करते हैं, उन गुणोंके जाननेके लिये यह उपाय बतलाते हैं कि, तू रागादि भावरोगोंको कम कर और उक्त रोगोंके कम करनेके लिये ज्ञानदर्शनचारित्ररूप औषधियां बतलाते हैं तथा उनका क्षणक्षणपर सेवन करनेका उपदेश देते हैं। यह भी कहते हैं कि, रत्नत्रयके सेवनसे भगवानकी आराधना होगी और उनकी आराधनासे महाराज्यके समान मोक्षपदकी प्राप्ति होगी।

यद्यपि ग्रहण किये हुए गुणोंमें स्थिरता करनेवाले और परम हितकारी भगवान् धर्माचार्य इस प्रकारका उपदेश देते हैं—त्याग आदिके विषयमें कुछ भी नहीं कहते हैं, तथापि जैसे वह भिखारी रसोईघरके स्वामीके वचन सुनकर अपने अभिप्रायके वशसे इस प्रकार बोला था कि. " हे नाथ! अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है? मैं अपने इस भीखके भोजनको किसी प्रकारसे भी नहीं छोड़ सकता हूं।" उसी प्रकारसे यह जीव भी चारित्रमोहनीय कर्मसे विह्वल होकर इस प्रकार चिन्तवन करता है कि, " अहो! ये भगवान् मुझे बड़े भारी आडम्बरसे धर्मका उपदेश देते हैं, सो अवश्य ही ये मुझसे धन स्त्री विषय आदिका त्याग कराना चाहते हैं। परन्तु मैं धनादिको किसी प्रकारसे छोड़ नहीं सकता हूं। अतएव इनसे समक्षमें ही स्पष्ट कह दूं कि, आप इस विषयमें वारंवार उपदेश देकर अपना कंठ और तालु व्यर्थ ही सुखाते हैं।" यह सोचकर जीव अपना अभिप्राय गुरुके सम्मुख साफ २ कह देता है।

आगे रसोईघरके स्वामी धर्मबोधकरने इस प्रकार चिन्तवन किया कि, " मैंने तो इस भिखारीसे अपना भोजन त्याग करनेके लिये कहा भी नहीं है। केवल तीनों औषधियोंका सेवन करनेके लिये कहा है। फिर यह विना सम्बन्धकी बात क्यों कहता है? शायद यह अपने अभिप्रायकी विडम्बनासे यही जानता है कि इनका यह सब वचनाडम्बर मेरे भोजनका त्याग करानेके लिये ही है।" फिर धर्मबोधकरने मुसकुराके कहा, " हे भद्र! आकुलता मत कर, इस समय मैं तुझसे कुछ भी त्याग नहीं कराता हूं। इस कुभोजनका छोड़ना तेरे लिये ही हितकारी था, इसलिये मैं पहले छोड़ देनेके लिये कहता था। परन्तु यदि अब यह तुझे नहीं रुचता है, तो

आगे इस विषयमें मैं चुप ही रहूंगा। परन्तु यह तो कह कि मैंने जो पीछेसे राजराजेश्वरके गुण आदि वर्णन किये थे और तुझे क्या करना चाहिये, यह समझाया था, सो तूने उसमें थोड़ा बहुत कुछ धारण किया या नहीं?—स्मरण रक्खा है या नहीं?" धर्मगुरू धर्माचार्य भी धर्मबोधकरके समान ऐसी ही सब बातें विचारते हैं और कहते हैं। यह सब स्पष्ट ही है। अतः पढ़नेवालोंको अपनी बुद्धिसे ही इसकी योजना कर लेनी चाहिये।

पश्चात् उस निष्पुण्यकने कहा, "हे नाथ! मैंने आपके कहे हुए वचनोंपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया है। मुझे नहीं मालूम है कि आपने क्या कहा था; तौ भी आपके कोमल वचनालापसे मेरे चित्तमें थोड़ासा आनन्द उल्लसित हुआ है।" इसके पीछे भिखारीने जब कि वह धर्मबोधकरके यह वचन सुनकर कि 'मैं तुम्हारे भोजनका त्याग नहीं कराना चाहता हूं' भयरहित हो गया था अपने चित्तकी व्याकुलताका कारणभूत सारा वृत्तान्त आदिसे अन्त तक कह सुनाया। और पूछा कि, "ऐसी अवस्थामें अब मुझे क्या करना चाहिये, सो आज्ञा दीजिये। मैं उसे धारण करूंगा।"

इसी प्रकार श्रीगुरु महाराज भी जीवके चित्तकी दशा जानकर कहते हैं कि "हम तुझसे सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग करनेके लिये जिसे कि तू नहीं छोड़ सकता है, नहीं कहते हैं। केवल तुझे स्थिर करनेके लिये भगवानके गुणोंका अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं और अंगीकार किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके निरन्तर पालन करनेके लिये उपदेश देते हैं। सो तू इसकी कुछ धारणा करता है या नहीं, अर्थात् हमारे उपदेशका तेरे हृदयपर कुछ असर होता है या नहीं?" तब यह जीव कहता है कि

"हे भगवन्! सम्यक्प्रकारसे मैं कुछ भी नहीं समझता हूं, मेरे चित्तपर कुछ भी असर नहीं होता है, परन्तु आपके मीठे और सुन्दर वचनोंसे आनन्दित होकर ज्यों ही आप कुछ कथन करते हैं, त्यों ही शून्यहृदय हूं, तौ भी टकटकी लगाये हुए इस तरहसे सुनता रहता हूं, जैसे सब कुछ समझता होऊं। भला मेरे जैसे मूर्खके हृदयमें उत्कृष्ट तत्त्वोंका प्रवेश कैसे हो सकता है? क्योंकि जब आप तत्त्वमार्गका व्याख्यान करते हैं, तब मैं बहुत कुछ प्रयत्न करता हूं, तो भी सोते हुएके समान, नशेबाजके समान, पागलके समान, और मूर्छितके समान सर्वथा शून्यहृदय होकर कुछ भी नहीं समझ सकता हूं। मेरे चित्तकी इस अस्थिरताका जो कारण है, उसे भी सुन लीजिये।" इस प्रकार कहकर जिसके चित्तमें पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ है ऐसा यह जीव गुरुके साम्हने अपने दुश्चरित्रोंकी तथा बुरे वचनोंके कहनेकी निन्दा करता है, पूर्वमें उसे जो २ बुरे विकल्प उठे थे, उन्हें प्रगट करता है, और आदिसे अन्ततक अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन करता है। फिर कहता है कि, "हे भगवन्! मैं जानता हूं कि, आप मेरी भलाई करनेकी इच्छासे विषयादिकोंकी बहुत २ निन्दा करते हैं, परिग्रह छोड़नेको कहते हैं, जो परिग्रह त्याग कर देता है, उसके प्रशम सुखकी प्रशंसा करते हैं, और उस त्यागके कारण जो परमपद अर्थात् मोक्षरूप कार्य सिद्ध होता है, उसकी श्लाघा करते हैं, तौ भी मैं कर्मोंकी परतंत्रताके कारण जो धनविषयादिकोंमें पूर्वके अभ्याससे मूर्च्छा हो रही है, उसे उसी प्रकारसे निवारण नहीं कर सकता हूं, जिस तरहसे बहुतसे भैंसके दही और बैंगनको खानेवाला निद्राको नहीं रोक सकता है और बहुत तीव्र विषको खानेवाला विह्वलताको नहीं

रोक सकता है। इस कर्मपरतंत्रतासे विह्वल होनेके कारण मुझको आपका धर्मोपदेश उसी प्रकारसे उद्वेगयुक्त करता था—बहुत ही बुरा मालूम होता था, जिस तरहसे महानिद्राके कारण बेसुध हुए पुरुषको जगानेवाले पुरुषके शब्द बुरे मालूम होते हैं। परन्तु कभी २ बीच २ में आपके उपदेशकी मधुरता, गंभीरता, उदारता (विस्तार) और परिणामकी सुन्दरताका विचार करनेसे आल्हाद भी होता था। जब आपने यह कहा है कि, तू असमर्थ है इसलिये हम तुझसे परिग्रहका त्याग नहीं कराते हैं, तब मेरी व्याकुलता और भय नष्ट हुआ है और मैं आपके साम्हने यह सब वृतान्त कह सका हूं। अन्यथा जब जब आप उपदेश करते थे, तब तब मेरे चित्तमें अनेक विकल्प उठते थे। उस समय मैं ऐसा चिन्तवन करता था कि, ये स्वयं तो निष्पृह हैं—इन्हें किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है मुझसे केवल धन विषयादि छुड़ाते हैं। परन्तु जब मैं छोड़ नहीं सकता हूं, तब इनका यह परिश्रम व्यर्थ ही है। उस समय यद्यपि मैं ऐसा चिन्तवन करता था—तो भी भयकी अधिकतासे अपने जीका अभिप्राय प्रगट नहीं कर सकता था। जब मेरी ऐसी हीनशक्ति है, तब मुझे क्या करना चाहिये, इस विषयमें आप ही प्रमाण हैं अर्थात् आप जो कहेंगे मुझे वही मान्य होगा।"

इसके पश्चात रसोईपति धर्मबोधकरने उस भिखारीसे पहले कही हुई सब बातें जिनपर कि उसने चित्तकी अस्थिरताके कारण कुछ भी ध्यान नहीं दिया था, फिरसे कहीं। और अपनी तीनों औषधियोंका योग्यायोग्य विभाग (अमुक योग्य वा पात्र है, और अमुक अयोग्य वा अपात्र है, योग्यको देनेसे लाभ होगा, अयोग्यको देनेसे कुछ नहीं होगा; इस प्रकारका वि-

चार) जिसका कि राजराजेश्वरने पहले उपदेश किया था, समझाया। उससे यह भी कहा कि, " हे भद्र ! तू कष्टसाध्य (कठिनाईसे अच्छा होने योग्य) रोगी है। इसलिये विना बड़े भारी प्रयत्नके तेरे रोग उपशान्त हो जावेंगे—आराम हो जावेंगे, ऐसा नहीं दिखता है। इसलिये अब तू इस राजमन्दिरमें यत्नपूर्वक ठहर और जो समस्त रोगोंको नाश करने योग्य अतुल पराक्रमको धारण करते हैं, उन राजराजेश्वरका निरन्तर ध्यान करते हुए तीनों औषधियोंका रातदिन सेवन कर। यह तद्दया नामकी दासी तेरी परिचारिका होकर रहेगी ! " भिखारीने सब कुछ स्वीकार कर लिया और तदनुसार वह अपने भिक्षाके ठीकरेको किसी एक स्थानमें रखकर उसकी रक्षा करता हुआ कुछ समय तक उस राजमन्दिरमें ही रहा। इन सब बातोंकी योजना जीवके विषयमें इस प्रकारसे करना चाहिये:—

जब यह पहिले कहे अनुसार अपना अभिप्राय गुरुमहाराजसे कह देता है और उनसे पूछता है कि, अब मैं क्या करूं, तब वे दया करके पहिली कही हुई सब बातें फिरसे कहते हैं और तत्पश्चात् उसको ऐसा पक्का बनानेके लिये कि जिससे कालान्तरमें भी वह आचारभ्रष्ट न हो जाय धर्मसामग्रीकी अतिशय दुर्लभता दिखलाते हुए, रागादि भावरोगोंकी अतिशय प्रबलता वर्णन करते हुए और अपनी परतंत्रता प्रगट करते हुए कि हम इस विषयमें स्वतंत्र नहीं हैं आज्ञासे काम करते हैं; कहते हैं कि—" हे भद्र ! जैसी सामग्री तुझे प्राप्त हुई है, वैसी किसी अभागी वा अधन्य प्राणीको कभी नहीं मिल सकती है। और हम अपात्रके विषयमें कभी परिश्रम भी नहीं करते हैं। क्योंकि भगवानकी यह आज्ञा है कि, जो जीव

योग्य हों, उन्हींको ज्ञान दर्शन और चारित्र देना चाहिये, अयोग्योंको नहीं। क्योंकि अयोग्यको दिया हुआ रत्नत्रय स्वार्थका साधक नहीं होता है अर्थात् उससे कुछ लाभ नहीं होता है, बल्कि विपरीत होकर उलटा अनर्थोंका बढ़ानेवाला होता है। कहा भी है,–

धर्मानुष्टानवैतथ्यात्प्रत्यपायो महान् भवेत्।
रौद्रदुःखौघजनको दुःप्रयुक्तादिवौषधात्॥

अर्थात् धर्माचरणकी वितथतासे अर्थात् विरुद्धरूप पालनासे उसी प्रकार भयानक दुःख होते हैं, जैसेकी बुरी तरहसे वा अयोग्य रीतिसे प्रयुक्त की हुई औषधिके सेवनसे होते हैं।

हे भद्र! भगवानका उपदेश उत्तम गुरुओंकी परम्परासे ज्ञात हुआ है और भगवान्‌के प्रसादसे ही हमने योग्य अयोग्य (पात्र अपात्र) जीवोंके लक्षण जाने हैं। ये ज्ञान दर्शन और चारित्र ही उन जीवोंके भेद करनेवाले हैं अर्थात् इन्हींसे जीवोंके योग्य अयोग्य साध्य असाध्य आदि भेद होते हैं, ऐसा भगवानने कहा है। जिन्हें पहिली ही अवस्थामें (प्रवेश होते ही) ऊपर कहे हुए ज्ञान दर्शन और चारित्रपर प्रीति हो जाती है, और जिन्हें ज्ञान दर्शनादिके सेवन करनेवाले अपने ही जैसे जान पड़ते हैं तथा जो ज्ञानादिको सुखसे ही–सहज ही ग्रहण कर लेते हैं और जिनपर सेवन किये हुए ज्ञानदर्शनादि तत्काल ही अपनी विशेषता दिखलाते हैं–असर करते हैं, वे लघुकर्मी तथा आसन्नमोक्ष हैं, अर्थात् समझना चाहिये कि, उन्हें शीघ्र ही मोक्ष हो जायगा और जैसे अच्छी लकड़ी चित्र उकीरनेके योग्य होती है, उसी प्रकारसे उन्हें तीनों औषधियोंके योग्य समझना चाहिये। ऐसे जीव भावरोगोंका नाश करनेके लिये सुसाध्य हैं।"

जिन जीवोंको ये रत्नत्रयरूप औपधियां शुरूमें ही अच्छी नहीं लगती हैं, इनके सेवन करनेवाले दूसरे जीवोंका जो तिरस्कार करते हैं, सद्गुरुओंके बड़े भारी प्रयत्नसे जो बोधको प्राप्त होते हैं—वा सुलटते हैं, ज्ञानदर्शनादिका सेवन करनेसे जिनपर बहुत समयके बीतनेपर असर होता है और दृढ़ निश्चय नहीं होनेके कारण जो अपने रत्नत्रयमें वारंवार अतीचार दोप लगाते हैं, वे गुरुकर्मी, तथा व्यवहितमोक्ष हैं, अर्थात् उन्हें शीघ्र मोक्ष नहीं मिलता है। जैसे मध्यम प्रकारकी लकड़ी अच्छे कारीगरके प्रयत्नसे चित्र उकीरनेके योग्य होती है, उसी प्रकारसे ये अच्छे गुरुके प्रयत्नसे योग्यताको प्राप्त होते हैं। भाव रोगोंको नष्ट करनेके लिये इन्हें कष्टसाध्य समझना चाहिये। इनके रागद्वेषादि भावरोग बड़ी कठिनाईसे नष्ट होते हैं।

जिन जीवोंको ये सम्यग्दर्शनादि बिलकुल अच्छे नहीं लगते हैं, हजारों उपायोंसे योग मिला देनेपर भी जो इन्हें धारण नहीं करते हैं और उपदेश देनेवालोंके साथ भी जो वैर करते हैं, वे महापापी, अभव्य और सर्वथा ही रत्नत्रयरूप औपधिके अयोग्य होते हैं। भावरोगोंको नाश करनेके लिये उन्हें असाध्य समझना चाहिये।

हे सौम्य! भगवान्के चरणोंके प्रसादसे हम जो लक्षण समझे हैं उनसे, तथा जैसा तू अपना स्वरूप कहता है उससे, और हमारे ध्यानमें तेरा जो स्वरूप आया है उससे, जान पड़ता है कि तू कष्टसाध्य जीवोंकी श्रेणीमें है। ऐसी दशामें जबतक खूब ही प्रयत्न न किया जाय, तबतक तेरे रागादि दोषोंका उपशम नहीं हो सकता है। अतएव हे वत्स! यदि अब भी तुझमें सर्व परिग्रहके त्याग करनेकी शक्ति नहीं है, तो भगवान्के इस विस्तृत शासनमें भावपूर्वक स्थिर रहके सारी आशाओंको छोड़के और हृदयमें गाढ़ी भ-

क्तिसे उन भगवानको निरन्तर स्थापित करके जो कि अचिन्तनीय पराक्रमके कारण सारे दोषोंका शोषण कर सकते हैं देशाविरातिको (श्रावकधर्मको) ही धारण कर और सदा ही ज्ञान दर्शन और चारित्रको जो कि उत्तरोत्तर क्रमसे विशिष्ट, विशिष्टतर और विशिष्ट तम हैं, यत्नपूर्वक सेवन कर। ऐसा करनेसे तेरे रागादि रोगोंका उपशम हो जायगा—अन्य प्रकारसे नहीं।"

इस प्रकारका उपदेश देनेमें तत्पर रहनेवाली जो ज्ञानवान् धर्म-गुरुओंकी इस जीवपर दया है, वास्तवमें उसीको इसका पालन करनेवाली—परिचारिका दया समझना चाहिये।

इसके पश्चात् यह जीव गुरुमहाराजके वचनोंको मानता है, मैं यावज्जीव ऐसा ही करूंगा इस प्रकार निश्चय करता है, देश-विरतोंकी पालन करता हुआ कुछ समयतक उक्त शासनमन्दि-रमें रहता है और उस समय भिक्षाके आश्रयभूत ठीकरेके समान अपने विषय कुटुम्बादिकके आधारभूत जीवितव्यकी (जीवनकी) रक्षा करता है। इस तरह जीवके वहां रहते समय आगे जो वृतान्त हुआ उसे कहते हैं;—

कथानकमें कहा है कि, "वह तद्दया नामकी परिचारिका नि-ष्पुण्यकको वे तीनों औषधियां रात दिन देती है, परन्तु उसे तो केवल वह कुभोजन ही अच्छा लगता है। उसीमें उसकी मूर्च्छा है इसलिये उन औषधिरूप पदार्थोंका वह कुछ भी आदर नहीं करता है।" सो इस जीवके विषयमें ऐसा ही समझना चाहिये। क्योंकि यद्यपि गुरु महाराजकी दया इसे निरन्तर ही ज्ञानदर्शनादि प्रदान करती है, परन्तु कर्मोंकी परतंत्रतासे धनादि विषयोंमें मोहित रहकर यह उन्हें बहुत नहीं मानता है अर्थात् ज्ञान दर्शनादिमें इसकी आदरबुद्धि नहीं रहती है।

और कथामें कहा है कि, "वह निष्पुण्यक मोहके वशीभूत होकर अपने ठीकरेके भोजनको तो बहुत खाता है। परन्तु तद्दयाके दिये हुए परमान्नको (खीरको) उपदंशके[1] समान थोड़ा २ चखता है।" उसी प्रकारसे यह जीव भी महा मोहसे ग्रसित होकर धन-कमानेकी और विषय भोगादिकोंकी बहुत चाहना करता है, परन्तु गुरुकी दयासे पाये हुए व्रत नियमादिकोंकी कभी २ बीच २ में अनादरके साथ पालना करता है अथवा करता ही नहीं है। और जैसे वह भिखारी तद्दयाकी प्रेरणासे उस अंजनको कभी २ आंखोंमें आंजता है, उसी प्रकारसे यह जीव भी सद्गुरुओंकी दयासे प्रेरित होकर उनके अनुरोधसे ही चलता है और ज्ञानका अभ्यास करता है—सो भी कभी २, सर्वदा नहीं। जैसे वह निष्पुण्यक तीर्थजलको पीनेके लिये धर्मबोधकरके कहनेसे ही प्रवृत्त होता है, उसी प्रकारसे यह जीव भी प्रमादके वशवर्ती होकर दयालु गुरुओंकी प्रेरणासे ही सम्यग्दर्शनको उत्तरोत्तर विशेषोंसे प्रकाशित करता है, अपने उत्साहसे नहीं।

आगे कहा है कि, "तद्दया जो बहुतसा परमान्न देती थी, उसमेंसे वह भिखारी शीघ्रतासे थोड़ासा तो खा लेता था और बाकीको अनादरसे अपने भीखके ठीकरेमें पड़ा रहने देता था। और उसके सम्बन्धसे वह भोजन इतना बढ़ता जाता था कि, भिखारीके रातदिन खानेपर भी समाप्त नहीं होता था। इससे उसे संतोष होता था, प्रसन्नता होती थी, परन्तु वह यह नहीं जानता था कि, किसके माहात्म्यसे इसकी वृद्धि होती जाती है। केवल उसमें अतिशय लवलीन रहकर उन तीनों औषधियोंके सेवनमें

---

[1] शराब पीनेके पश्चात् जो चाट खाई जाती है, उसे उपदंश कहते हैं।

शिथिल होकर काल व्यतीत करता था। और इसलिये उस अपथ्य-भोजीके रोग जड़मे नष्ट नहीं होते थे। केवल बीच २ में तद्दया-की प्रेरणासे जो वह परमान्नादिका थोड़ा बहुत सेवन कर लेता था, उसीसे वे रोग कुछ जीर्णअवस्थाको प्राप्त हो जाते थे–हलके पड़ जाते थे। परन्तु जब कभी आपेको भूल कर वह अपथ्यका अतिशय सेवन कर डालता था, तब वे रोग अपने विकारोंको प्रगट करते हुए शुल दाह मूर्च्छा अरुचि उत्पन्न करके उसे पीड़ित करते थे।"

यहां जीवके विषयमें भी उपर्युक्त सारा कथन ठीक २ घटित होता है। चातुर्मासादिके (चौमासेके) किसी अवसरपर दयालु गुरु महाराज इस जीवके आगे अतिशय उत्कृष्ट व्रतोंके धारण करनेके लिये अणुव्रतोंकी विधिका सविस्तर वर्णन करते हैं। परन्तु उस समय तीव्र चारित्रमोहिनीय कर्मके कारण जिसका पराक्रम मन्द हो गया है, ऐसा यह जीव वैराग्यकी तीव्रतासे कोई २ व्रत ग्रहण करता है। सो यह सब बहुत सी दी हुई खीरमें से थोडीसी भक्षण करनेके समान समझना चाहिये। और फिर कई एक व्रतोंको दयालु गुरुमहाराजके अनुरोधसे चित्तसे न चाहनेपर भी ले लेता है, सो इसे बचे हुए परमान्नको अपने ठीकरेके भोजनमें डाल लेनेके समान समझना चाहिये। मन्द वैराग्यसे अंगीकार किये हुए भी व्रत अपने सम्बन्धसे इस भव और परभवमें विषय धनादिकोंको बढ़ाते हैं, सो यह परमान्नके सम्बन्धसे ठीकरेके भोजनके बढ़नेके तुल्य है। वे धन विषयादि पदार्थ जो कि उन व्रत नियमादिकोंके प्रभावसे प्राप्त होते हैं, जब निरन्तर भोगे जानेपर भी कभी निःशेष नहीं होते हैं। (क्योंकि उनके उत्पन्न होनेके व्रतनियमादि दृढ़ कारण हैं) तब

यह देव और मनुष्यभवमें उत्पन्न हुआ जीव अपनी इस धन विषयादिकी विभूतिको पाकर हर्षित होता है। बेचारा यह नहीं सोचता है कि, यह धन विषयादिकी विभूति मुझे धर्मके महात्म्यसे प्राप्त हुई है, तब इसमें हर्षित होनेकी क्या बात है? मुझे तो इसके कारणभूत प्रभावशाली धर्मका ही सेवन करना चाहिये। इस प्रकार यह वास्तविक स्वरूपको न जाननेवाला और इसलिये धनविषयादिमें मनको उलझानेवाला जीव ज्ञान दर्शन और चारित्रको शिथिल करता है। और जानता हुआ भी मोहके कारण नहीं जाननेवालेके समान व्यर्थ ही समयको खोता है। इस प्रकार धनादि पदार्थोंमें उलझे हुए और धर्म क्रियाओंमें मन्द रुचिवाले जीवके रागादि भावरोग बहुत काल बीत जानेपर भी नष्ट नहीं होते हैं। केवल गुरुमहाराजकी प्रेरणासे मन्द वैराग्यसे भी जो उत्तम आचरण (व्रतपालन) करता है, उससे इतना गुण होता हैं अर्थात् उसके भावरोग कुछ क्षीण हो जाते हैं।

यह जीव अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान न होनेसे विषयधनादिमें बहुत ही गीधता है, जिससे कि बहुत २ परिग्रह संग्रह करता है, बड़ी २ उलझनोंका व्यापार प्रारंभ करता है, खेती आदि करता है, और इनके समान और भी अनेक आरंभ करता है। तब वे रागादि भावरोग अपने प्रबल सहकारी कारणोंके मिलनेसे नाना प्रकारके विकार प्रगट करते हैं। उस समय अनादरपूर्वक किये हुए आचरण रक्षक नहीं होते हैं। उन विकारोंसे यह कभी एकाएक शूल उठनेके समान धन खर्च करनेकी चिन्तासे पीड़ित होता है, कभी दूसरोंकी ईर्षारूप दाहसे जलता है, कभी अपना सारा धन हरा जानेसे मुमूर्षुके समान मूर्च्छाका अनुभव करता है, कभी कामज्वरके

संतापसे तड़फड़ाता है, कभी लेनेवाले साहूकारोंके द्वारा बलपूर्वक छीने गये धनकी यातनासे वमन करनेवाले पुरुपके समान चेष्टा करता है, कभी " जानते हुए भी देखो यह ऐसी प्रवृति करता है" इस प्रकारकी लोकनिन्दासे जड़ताके (शीतरोगके) समान मूर्ख कहलानेका कष्ट भोगता है, कभी हृदय और पसलीकी वेदनाके समान इष्टवियोग और अनिष्ट संयोगकी पीड़ासे 'हाय' 'हाय' करता है, कभी उस प्रमादीको मिथ्यात्वरूपी उन्मादका सन्ताप फिर भी हो जाता है। और कभी उत्तम अनुष्ठानरूपी पथ्यभोजनपर उसे अतिशय अरुचि हो जाती है। इस तरह यह अपथ्य-सेवनमें आसक्त रहनेवाला जीव उक्त देशविरतिकी कोटिपर आरूढ हो जानेपर भी ऐसे २ विकारभावोंसे व्यथित रहता है।

आगे कहा है कि, " तद्दयाने भिखारीको अनेक विकारोंसे अधमुआ देखकर जान लिया कि, अपथ्य भोजनकी आसक्तिके कारण इसकी यह दशा हुई है। परन्तु इसको आकुलता हो जायगी, इस ख्यालसे कुछ कहा नहीं। भिखारीने ही स्वयं कहा कि, मुझे इतनी अधिक लालसा है कि, उसके कारण मैं अपने आप इस भोजनको नहीं छोड़ सकता हूं। इसलिये अबसे मुझे आप ही इस अपथ्यसेवनसे निरन्तर रोक दिया करें। तद्दयाने यह बात मान ली अर्थात् वह उसे अपथ्यभोजन करनेसे रोकने लगी और इस कारण उसकी दशामें थोड़ासा अन्तर पड़ गया अर्थात् उसके रोग कुछ शान्तसे हो गये। परन्तु जब तद्दया समीप रहती थी, तब ही वह भिखारी अपथ्यको छोड़ता था, उसके नहीं रहनेपर नहीं। और तद्दया अनेक जीवोंको जगानेके कार्यमें आकुलित रहती थी, उसे जगह २ दूसरे जीवोंको प्रतिबोधित करनेके लिये जाना पड़ता था,

इस लिये वह इसहीके पास सदा रह नहीं सकती थी। इससे उसकी अनुपस्थितिमें भिखारी भी स्वच्छन्दतासे अपथ्यसेवन करता था और फिर विकारोंसे पीड़ित होता था।" इस जीवके सम्बन्धमें भी ये सब बातें घटित होती हैं।

गुरुमहाराजकी जो जीवविषयक दया है, वह बहुत ही प्रधान कार्यकी करनेवाली है, इस लिये उसे पृथकरूपमें कर्त्री कहा है। अभिप्राय यह है कि, यद्यपि इस प्रकरणमें कर्त्ता गुरुमहाराज हैं, उनकी दया उनसे कोई पृथक् व्यक्ति नहीं है, तो भी सर्वत्र गुरुमहाराजकी दयाकी ही प्रधानता रक्खी गई है, इस लिये उसकी एक पृथक् पात्रके रूपमें कल्पना कर ली है।

वे गुरुमहाराज जिनका कि चित्त दयासे व्याप्त रहता है, जब इस प्रमादी जीवको अनेक प्रकारकी पीड़ाओंकी व्याकुलतासे रोता हुआ देखते हैं, तब इस प्रकार उलाहना देते हैं कि, "हे भद्र! हमने तो तुझसे पहिले ही कह दिया है कि, जिनका चित्त विषयवासनाओंमें आसक्त रहता है उन्हें मानसिक संतापोंकी कमी नहीं रहती है और जो धनके कमाने और रखवाली करनेमें तत्पर रहते हैं, नाना प्रकारकी विपत्तियां उनसे कुछ दूर नहीं रहती हैं—वे हमेशा सिरपर खड़ी रहती हैं। परन्तु तेरी तो इन ही विषयोंमें बहुत गहरी प्रीति है—तू इनहींमें मग्न रहता है और इस ज्ञान दर्शन चारित्ररूप रत्नत्रयको जो कि सम्पूर्ण क्लेशरूप महा अजीर्णका नाश करनेवाला और उत्कृष्ट स्वास्थ्यका करनेवाला है, तू अनादर दृष्टिसे देखता है, तब बतला कि, हम क्या करें? यदि तुझसे कुछ कहते हैं, तो तू दुखी होता है। इसलिये सब वृतान्तको जानते हुए और तुझे अनेक उपद्रवोंसे घिरा देखते हुए भी हम चुप हैं। इसके सिवाय

तुझे कुमार्गपर जाते हुए देखकर भी हम इस भयसे नहीं रोकते हैं कि, कहीं इसे आकुलता न हो जाय। यदि रत्नत्रयकी ओर आदर-दृष्टिसे देखनेवाले, विरुद्ध कामोंको छोड़नेवाले और ज्ञान दर्शन तथा देशचारित्रमें स्थिर रहनेवाले पुरुषोंके विकारोंका हमसे निवारण हो गया, तो बस है, आदररहित पुरुषोंके विकार निवारण करनेसे हम बाज आये। जब हमारे देखते हुए भी तू रागादि रोगोंसे दुखी रहता है, तब लोग हमें भी उपालंभ देंगे--हमारी भी निन्दा करेंगे कि, ये इसके गुरु हैं।" इसे तद्दयाने उस भिखारीको जो उलहना दिया था, उसके समान समझना चाहिये।

पश्चात् यह जीव गुरुमहाराजसे कहता है कि, "भगवन्! अनादि कालसे मुझे इनका अभ्यास हो रहा है, इसलिये ये तृष्णा, लोलुपता आदिके भाव मुझे मूच्छित रखते हैं। इनके वशवर्ती होनेसे आरंभ परिग्रहके बुरे विपाकको अर्थात् कडुए फलको मैं अच्छी तरहसे जानता हूं, तो भी उसे नहीं छोड़ सकता हूं। इसलिये आपको मुझसे उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। किन्तु मुझे बुरी प्रवृत्ति करते देखकर रोकना चाहिये। शायद आपके माहात्म्यसे ही थोड़े थोड़े दोषोंको त्याग करते २ मेरी ऐसी कोई परणति हो जाय कि, उससे मैं कभी सारे दोषोंका त्याग (महाव्रतधारण) करनेमें भी समर्थ हो जाऊं।"

गुरुमहाराज उसकी यह बात मान लेते हैं और यदि वह कभी प्रमाद करता है अर्थात् अपनी प्रवृतिमें कुछ दोष लगाता है, तो वे रोक देते हैं। उनके वचन माननेसे पहिलेकी प्रवृतिपीड़ा शान्त हो जाती है और उनके प्रसादसे ज्ञानादि गुण बढ़ने लगते हैं। जीवकी इस दशाको तद्दयाके वचनानुसार चलनेसे उस भिखारीको

जो थोड़ासा आरोग्य हो गया था, उसके समान समझना चाहिये। आगे यह जीव उत्कृष्ट ज्ञानके न होनेसे अपना हित करनेकी चेष्टा तब ही करता है, जब गुरुमहाराज प्रेरणा करते हैं। जब उनकी प्रेरणा नहीं होती है, तब यह सत्कर्तव्य करनेमें शिथिल हो जाता है, और आरंभ परिग्रह करनेमें वारंवार अतिशय प्रवृत्ति करने लगता है। उस समय रागादि भावोंका उल्लास वा बढ़ाव होता है और नाना प्रकारकी मानसिक तथा शारीरिक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। उसकी इस अवस्थाको भिखारीकी विह्वलता समझनी चाहिये। भगवान् गुरुमहाराजके लिये जिस तरह यह जीव अच्छी प्रेरणाके द्वारा पालन करने योग्य वा सुमार्गपर चलाने योग्य है, उसी प्रकारसे और बहुतसे जीव भी हैं। इसलिये समस्त जीवोंपर अनुग्रह करनेमें तत्पर रहनेवाले वे गुरुमहाराज इस जीवको कभी २ ही प्रेरणा कर सकते हैं, शेष समयमें यह स्वतंत्र वा स्वच्छन्द रहता है; इसलिये उस समय यह अपना चाहे जो अहित करता है कोई रोकनेवाला नहीं रहता है। इससे उसे पहिले कहे हुए विकार हो जाते हैं। जीवकी इस अवस्थाको तद्दयाके पास न रहनेके कारण भिखारीके अपथ्य सेवन कर लेनेके और उसके रोगोंके फिर उभड़ आनेके समान समझना चाहिये।

इसके पश्चात् भिखारीने धर्मबोधकरसे अपना सारा वृत्तान्त निवेदन करके कहा कि, "हे नाथ! कोई ऐसा यत्न कीजिये, जिससे मुझे स्वप्नमें भी कभी पीड़ा न हो।" रसोईपतिने कहा कि, "यह तद्दया व्यग्रताके कारण अर्थात् दूसरोंके उपकारमें भी उलझी रहनेके कारण तुझे अपथ्यसेवन करनेसे अच्छी तरह नहीं रोक सकती है। इसलिये तेरे लिये एक दूसरी व्यग्रतारहित परिचारिका किये

देता हूं। परन्तु तुझे जो वह कहेगी, वही करना पड़ेगा।" भिखारीने जब यह बात स्वीकार की, तब धर्मबोधकरने उसे एक सद्‌बुद्धि नामकी असाधारण परिचारिका वा दासी सौंप दी। इससे उसकी जो अपथ्यसेवनमें लंपटता रहती थी, वह नष्ट हो गई, रोग हलके हो गये और उनके विकार प्रायः मिट गये। उसके शरीरमें कुछ सुखकी झलक आई और आनन्दकी वृद्धि हुई। यह विषय जीवके सम्बन्धमें भी समानरूपसे घटित होता है। यथा;—

जैसे अन्धा पुरुष दौड़ते समय भीत स्तम्भ आदिसे ठोकर खाकर वेदनासे विह्वल हो जाता है और फिर किसी दूसरे पुरुषको अपनी चोटका कष्ट बतलाता है, उसी प्रकारसे यह जीव भी गुरु जिन्हें रोक देते हैं, उन आचरणोंको करके जब कष्ट पाता है, तब गुरुमहाराजका उसके हृदयमें विश्वास जम जाता है और वह अपने अनेक प्रकारके कष्ट उन्हें सुनाता है। हे भगवन्! जब मैं आपके रोक देनेसे चोरीका धन नहीं लेता हूं, विरुद्धराज्यातिक्रम नहीं करता हूं, वेश्याआदि दुराचारिणी स्त्रियोंके यहां नहीं जाता हूं और भी जो अनेक प्रकारके धर्मविरुद्ध तथा लोकविरुद्ध कार्य हैं, उन्हें नहीं करता हूं और महान् आरंभ और परिग्रहमें रंजायमान नहीं होता हूं, तब लोग मुझे साधु (भला मनुष्य) कहकर सत्कार करते हैं, विश्वास करते हैं, और मेरी प्रशंसा करते हैं। उस समय शरीरके परिश्रमसे जो दुःख होता है वह मुझे जान ही नहीं पड़ता है, चित्त स्वस्थ होता है और इस विचारसे बहुत आनन्द होता है कि धर्म इस प्रकारका आचरण करनेवाले प्राणियोंको अच्छी गतिमें पहुंचा देता है। परन्तु जब आप मुझे रोकते नहीं हैं अथवा रोकते हैं, तो मैं उसकी परवाह न करके धन विषयादिमें अतिशय आसक्ति

होनेके कारण 'गुरुमहाराज इसे थोड़े ही जानेंगे' इस अभिप्रायसे चोरीसे लाये हुए पदार्थ ले लेता हूं, विषयकी लोलुपतासे वेश्यादि स्त्रियोंके साथ सहवास करता हूं, तथा आपके रोके हुए और भी अनेक आचरण करता हूं, तब लोग निन्दा करने लगते हैं, राजकुलके लोग सारा धन जब्त कर लेते हैं, शरीरको कष्ट होता है, मानसिक दुःख होते हैं, इसके सिवाय और भी समस्त अनर्थ इस लोकमें ही प्राप्त हो जाते हैं, तथा पाप ऐसा आचरण करनेवाले पुरुषोंको दुर्गतिरूपी गढ़ेमें पटक देता है, इस चिन्तासे हृदय जलने लगता है और क्षणभरको भी मुझे सुख नहीं मिलता है। इसलिये हे नाथ! अब आप ऐसा यत्न कर दीजिये, जिससे मैं आपके वचनोंके अनुसार आचरण करनेरूप कवचको निरन्तर पहिने रहकर इन अनर्थरूपी बाणोंसे बचा रहूं।

यह सुनकर गुरुमहाराजने कहा कि, "हे भद्र! यद्यपि दूसरोंके रोकनेसे बुरे कार्य बहुत ही कम रुकते हैं, तो भी रोकनेसे और नहीं रोकनेसे क्या विशेषता होती है—क्या हानि लाभ होता है यह तू अच्छी तरहसे देख चुका है। हम अनेक प्राणियोंका उपकार करनेमें लगे रहते हैं—व्यग्र रहते हैं, इसलिये तुझे सदा पास रहकर नहीं रोक सकते हैं। ऐसी दशामें जब तक तेरे हृदयमें स्वयं सद्बुद्धि नहीं होगी, तब तक इन हमारे निषेध किये हुए आचरणोंसे जो अनर्थपर अनर्थ होते है, हुआ ही करेंगे—रुकेंगे नहीं। क्योंकि **सद्बुद्धिरेवपरप्रत्ययमनपेक्ष्य स्वप्रत्ययेनैव जीवमकार्यान्निवारयति**। अर्थात् सद्बुद्धि ही एक ऐसी है, जो दूसरोंके सहारेकी अपेक्षाके विना अपनी ही सहायतासे जीवको बुरा कार्य करनेसे रोक सकती है और तब ही जीव अनर्थोंसे बच सकता है।"

यह सुनकर जीवने कहा—"किन्तु हे नाथ! वह सद्बुद्धि भी तो मुझे आपके ही प्रसादके मिलेगी। आपके प्रसादके सिवाय उसके पानेका और कोई उपाय नहीं है।" तब गुरुमहाराज बोले, "अच्छा तो हे भद्र! हम तुझे सद्बुद्धि देते हैं। परन्तु वह हम सरीखे पुरुषोंके ही वचनाधीन रहती है। हम उसे दूसरोंको दे भी देवें, तो भी वह केवल उन्हीं जीवोंपर अपना अच्छा असर करती है, जो पुण्यवान् हैं। दूसरे पुण्यहीनोंपर उसका अच्छा परिणाम नहीं होता है। क्योंकि पुण्यवान् जीव ही उसका आदर करते हैं, अपुण्यवान् नहीं। शरीरधारियोंको जितने कष्ट होते हैं—जितने अनर्थ होते हैं, वे सब उस सद्बुद्धिके नहीं होनेसे ही होते हैं। और संसारमें जितने कल्याण हैं—जितने सुख हैं, वे सब सद्बुद्धिके ही अधिकारमें हैं। जो महात्मा सद्बुद्धिके प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करते हैं, वे ही वास्तवमें सर्वज्ञ भगवान्की आराधना करते हैं, दूसरे नहीं। हम सरीखोंका यह सब वचनप्रपंच भी तुम निश्चय समझ लो कि, उस सद्बुद्धिके प्राप्त करनेके लिये ही है। जो पुरुष सद्बुद्धिरहित हैं, उन्हें व्यवहारसे ज्ञानादि भले ही प्राप्त हो जावें, परन्तु वे ज्ञानहीन पुरुषोंसे किसी प्रकार अच्छे नहीं कहला सकते। क्योंकि अज्ञानियोंके समान वे भी स्वकार्य अर्थात् आत्मकल्याण नहीं कर सकते हैं। अधिक कहनेसे क्या, जो पुरुष सद्बुद्धिरहित हैं, उनमें और पशुओंमें कुछ भी अन्तर नहीं है। इसलिये यदि तू सुख चाहता है और दुःखोंसे डरता है, तो हम जो तुझको सद्बुद्धि देते हैं, उसको प्रयत्नपूर्वक रख—उसका आदर कर। सद्बुद्धिका आदर करनेसे समझा जावेगा कि, तूने हमारे वचनोंकी पालना की, तीन भुवनके स्वामी सर्वज्ञभगवानको अच्छी तरहसे माना, हमको संतुष्ट

किया, मोक्षको पहुंचानेवाले विमानपर आरोहण किया, लोकसंज्ञाका (लौकिक नाम अथवा बुद्धिका) त्याग किया, धर्मका आचरण किया, और अपने आत्माको भवसमुद्रसे तिरा कर पार कर दिया।" गुरुमहाराजके इस प्रकारके वचनरूपी अमृतके प्रवाहसे जीवका हृदय आल्हादित हो जाता है, और वह गुरुके वचनोंको मान लेता है। पश्चात् गुरुमहाराज उसे उपदेश देते हैं कि, "हे सौम्य! तुझसे एक अतिशय गुह्य[1] बात कहते हैं, उसे तुझे अच्छी तरहसे धारण करना चाहिये—हृदयपटलपर लिख रखना चाहिये कि जब तक यह जीव विपरीत ज्ञानके वशसे दुःखरूप धनविषयादिकोंमें सुख मानता है, और सुखरूप वैराग्य तप संयमादिमें दुःख मानता है, तब तक ही इसका दुःखसे सम्बन्ध है; परन्तु जब इसे विदित हो जाता है कि, विषयोंमें प्रवृत्ति करना—विषयोंको भोगना ही दुःख है और धन विषयादिकी अभिलाषासे निवृत्त होना ही सुख है, तब यह सम्पूर्ण आशाओंका नाश हो जानेसे और निराकुल हो जानेके कारण स्वाभाविक सुखोंके प्रगट हो जानेसे निरन्तर आनन्दरूप हो जाता है। और भी तुझे एक परमार्थकी बात सुनाता हूं- जैसे जैसे यह पुरुष निस्पृह अर्थात् अभिलाषारहित होता है, तैसे तैसे पात्रता आनेके कारण इसे सारी सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और जैसे जैसे यह सम्पदाओंका अभिलाषी होता है, तैसे २ वे सम्पदाएँ मानो इसको अपात्र वा अयोग्य समझकर इससे बहुत दूर भागती हैं। इसलिये तुझे इस बातको अच्छी तरहसे निश्चय करके किसी भी सांसारिक पदार्थके पानेकी वा भोगनेकी अभिलाषा नहीं रखना चाहिये। यदि तू इस बातको मान लेगा, तो तुझे कभी किसी शारीरिक और

---

[1] छुपाने योग्य लाभकी बात।

मानसिक पीड़ाकी गन्ध तक नहीं आवेगी।" गुरुमहाराजका यह उपदेश जीवने अमृतके समान ग्रहण किया। पश्चात् 'इसे सद्‌बुद्धि हो गई है, इसलिये अब यह कभी अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करेगा' ऐसा समझकर गुरुमहाराज इसकी ओरसे निश्चिन्त हो गये।

सद्‌बुद्धिके प्राप्त हो जानेपर यह श्रावकअवस्थामें वर्त्तता हुआ जीव यद्यपि विषयभोग करता है, और धनादि पदार्थ ग्रहण करता है—उपार्जन करता है, तथापि अतृप्तिकी करनेवाली अभिलाषाके नहीं होनेके कारण इस को जिसका कि मन ज्ञान दर्शन और देशचारित्रमें लग गया है, धन भोगादि जितने पदार्थ प्राप्त होते हैं, उतने ही संतोषित कर देते हैं। सद्बुद्धिके प्रभावसे उस समय यह जितना प्रयत्न ज्ञानादिके लिये करता है, उतना धनादिके लिये नहीं करता है, इससे नये रागादि विकारोंकी वृद्धि नहीं होती है और प्राचीनोंकी क्षीणता होने लगती है। इसके सिवाय पूर्वके संचित किये हुए कर्मोका परिपाक होनेसे यद्यपि इसे कभी २ शारीरिक और मानसिक कष्ट होते हैं, तथापि वे अनुबन्धरहित होनेके कारण बहुत समय तक नहीं ठहरते हैं। इससे यह जीव संतोष और असंतोषके गुण दोष जानने लगता है और उत्तरगुणोंकी प्राप्तिसे इसका चित्त आनन्दित रहने लगता है।

आगे कथा[1]—प्रसंगमें कहा है कि, एक दिन उस दरिद्रीने अपनी सद्‌बुद्धि नामकी परिचारिकासे पूछा कि, "हे भद्रे! मेरा शरीर और चित्त अब प्रसन्न रहने लगा है, सो इसका क्या कारण है?" तब उसने इसके दो कारण बतलाये, एक तो ठीकरेके बुरे भोजनमें जो तीव्र लालसा रहती थी, उसका अभाव और दूसरा तीर्थजल-

---

१ इसका सम्बन्ध पृष्ठ ४३ की पहिली पंक्तिसे है।

आदि तीनों औषधियोंका सेवन। इन दोनों कारणोंको उसने युक्ति-पूर्वक समझा भी दिये। इस जीवके सम्बन्धमें भी यह कथन बरा-बर घटित होता है;—अपनी सद्बुद्धिके साथ पर्यालोचना करनेसे वा उससे पूछनेसे ही जीव समझता है कि, मुझे जो यह शरीर और मनकी निवृत्तिरूप स्वाभाविक सुखकी प्राप्ति हुई है, सो विषयादि-कोंकी अभिलाषाका त्याग करनेसे और सम्यग्दर्शनादिका सेवन करनेसे हुई है। और पूर्वके अभ्यासके कारण यद्यपि यह जीव विषयादि सेवन करनेमें प्रवृत्त रहता है, तो भी सद्बुद्धिसहित होनेके कारण इस प्रकार विचार करता है कि, मुझ सरीखे पुरुषको ऐसा करना ठीक नहीं है। इससे गृद्धता नहीं होती है, गृद्धताके नहीं होनेसे चित्तकी लालसाकी निवृत्ति होती है और उससे प्रशमसुखकी प्राप्ति होती है। इसे सद्बुद्धिका युक्तिपूर्वक समझाना समझना चाहिये।

आगे उस सुखरूपी रसका पान करनेवाले दरिद्रीने अपनी परि-चारिकाके समक्ष कहा कि, "हे भद्रे! क्या अब मैं इस कुभोजन-को सर्वथा फेंक दूं, जिससे मुझे वह आत्यन्तिक सुख प्राप्त हो जाय जिसमें दुःखका लेश भी नहीं है?" उसने कहा, "छोड़ दो तो अच्छा ही है, परन्तु अच्छी तरहसे विचार करके छोड़ना। क्योंकि यह आपकी अत्यन्त प्यारी वस्तु है! यदि छोड़ देनेपर भी इससे आपका स्नेह नहीं छूटा, तो उससे इसका नहीं छोड़ना ही अच्छा है। क्योंकि स्नेह छोड़े विना कुभोजनके छोड़ देनेसे इस समय कुभोजनका सेवन करते हुए भी तीव्र लोलुपताके अभावमे और तीर्थजलादि औषधियोंके सेवनसे जो आपके रोगोंकी क्षीणता दिखलाई देती है, वह भी बहुत दुर्लभ हो जायगी। और सर्वथा त्याग करके फिर आप यदि इसका स्मरण मात्र भी करेंगे,

तो जो रोग क्षीण तथा शान्त हो गये हैं, वे फिर कुपित हो जावेंगे।" सद्‌बुद्धिकी ये बातें सुनकर भिखारीकी बुद्धि हिंडोलेसरीखी झूलने लगी। वह निश्चय नहीं कर सका कि, 'अब मैं क्या करूं।' इस जीवके सम्बन्धमें इसकी योजना इस प्रकारसे होती है:—

जब इस जीवका स्नेह सांसारिक पदार्थोंसे टूट जाता है और ज्ञानादिके सेवनमें अतिशय अनुरक्त हो जाता है, तब गृहस्थावस्थामें रहनेपर भी यह संतोषसुखके स्वरूपका ज्ञाता हो जाता है। उस समय अविनाशी प्रशमसुखकी वांछासे इसे सर्व संगका (परिग्रहका) परित्याग करनेकी बुद्धि उत्पन्न होती है और तब यह अपनी सद्‌बुद्धिके साथ अच्छी तरहसे आलोचना करता है—विचार करता है कि, मैं परिग्रहका सर्वथा त्याग कर सकूंगा या नहीं? तब सद्‌बुद्धिके प्रसादसे यह जानता है कि, अनादिकालके अभ्यासके कारण मेरा जीव विषयादिकोंमें लवलीन हो रहा है, इसलिये यदि इसने उस भागवती दीक्षाको धारण कर ली जो कि सारे दोषोंसे रहित होती है और फिर अपनी अनादिरूढ कर्मोंसे उत्पन्न हुई प्रकृतिका अनुसरणकरके (पुरानी आदतसे) विषयादिकोंको चाहकर आत्माकी केवल विडम्बना ही की, तो इससे तो यही अच्छा है कि, वह (निर्ग्रन्थदीक्षा) पहिलेसे ही अंगीकार न की जाय। क्योंकि विना तीव्र अभिलाषाके विषयादिकोंका सेवन करनेवाला गृहस्थ भी ज्ञानादि आचरण जिसमें प्रधान हैं, ऐसा द्रव्यस्तव करके कर्मरूपी अजीर्णको नष्ट कर सकता है और उससे रागादि भावरोगोंको क्षीण करके कर्मोंको हलका कर सकता है। इस जीवने अपने अनादिकालके संसारपरिभ्रमणमें पहिले किसी भी समय निर्ग्रन्थदीक्षा नहीं प्राप्त की है, इसलिये यह अत्यन्त दुर्लभ है। सो यदि इस

दुर्लभदीक्षाको पाकर यह फिर भी विषयादिकोंकी अभिलाषा करेगा, तो प्रतिज्ञा किये हुए कार्यको नहीं करनेसे और अतिशय चित्तसंक्लेशके कारण रागादिदोषोंकी बहुत ही वृद्धि होनेसे यह देशविरतिमें (गृहस्थावस्थामें) होनेवाली कर्मोंकी लघुताको भी नहीं कर सकेगा।

जिस समय यह जीव उपर्युक्त प्रकारसे विचार करता है, उसी समय चारित्रमोहनीय कर्मोंके वर्तमान अंशोंसे उसकी सर्व परिग्रहके त्याग करनेकी बुद्धि अस्तव्यस्त होकर फिर भी डोलने लगती है। तब वीर्यकी (पराक्रमकी) हानि होती है और उससे यह इस प्रकारके झूठे अवलम्बनोंका आश्रय लेता है, अर्थात् बहाने बनाता है कि;—यदि मैं दीक्षा ले लूंगा, तो यह मेरा मुख देखकर जीनेवाला कुटुम्ब दुखी होगा—मेरे विरहमें यह नहीं रह सकेगा। बेसमयमें इसे कैसे छोड़ दूं? यह मेरा बेटा अभी तक बलहीन है (नाबालिग है), लड़की विना व्याही है, बहिनका पति परदेशको गया है अथवा मर गया है, इसलिये इसका मुझे पालन करना चाहिये। यह भाई है, सो अभीतक घरका भार उठानेके योग्य नहीं हुआ है, माता पिता हैं सो इनका शरीर वृद्धावस्थाके कारण बहुत ही जर्जरा हो गया है और मुझपर इनका अतिशय स्नेह है, और मेरी स्त्री है, सो गर्भवती है। इसका मुझपर बहुत ही दृढ़ अनुराग है, इसलिये यह मेरे विना कभी नहीं जीवेगी। फिर मैं ऐसे निराधार कुटुम्बको कैसे छोड़ दूं? मेरे पास बहुतसा धन है और बहुत लोग मेरे ऋणी (कर्जदार) हैं। जिसकी भक्तिकी अच्छी तरहसे परीक्षा कर ली है ऐसा मेरा यह परिवार और बन्धुजनोंका समूह है। इसका पालन करना मेरा कर्तव्य है।

इसलिये मैं आसामियोंसे रुपया उगाकरके (वसूल करके), उसको परिवारके लोगोंको सौंप करके, धर्ममार्गसे धनकी व्यवस्था करके, और माता पितासे प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा लेकरके; इस तरह गृहस्थके सारे काम करके दीक्षा लूंगा। अभी इस बेसमयकी बकबकसे क्या लाभ है ?

और यह निर्ग्रन्थदीक्षा लेना साक्षात् स्वयंभूरमण समुद्रका भुजाओंसे तरना है, गंगाके पूरके सम्मुख चलना है, लोहेके जौ चबाना है, लोहेके गोलोंका निगलना है, कम्बलका सूक्ष्म पवनसे भरना है, सुमेरुपर्वतका मस्तकसे फोड़ना है, समुद्रका कुशाके अग्रभागसे मापना है, तेलसे लबालब भरे हुए कटोरेका एक बूंद भी गिराये विना सौ योजन तक दौड़ते हुए ले जाना है, आठ चक्रोंके भीतर दाहिने बाँये निरन्तर भ्रमण करती हुई पुतलीके बाँयें नेत्रको बाणसे छेद देनेके समान है, और तेजकी हुई तलवारकी धारपर 'पैर कहां पड़ता है' इसका विचार किये विना चलनेके समान है। क्योंकि इसमें परीषहोंका सहन करना चाहिये, देवादिकोंके किये हुए उपसर्गोंके सम्मुख होना चाहिये, सारे पापोंको छोड़ना चाहिये, सुमेरु पर्वतके समान भारी शीलका (सप्तशीलका) भार वहन करना चाहिये, आत्माको सदा [1]माधुकरी वृत्तिसे वर्ताना चाहिये, देहको कठोर तपसे तपाना चाहिये, संयमको आत्मीयस्वभाव बनाना चाहिये, रागादिकोंको जड़से उखाड़के फेंक देना चाहिये, हृदयके अंधकारके फैलावको नष्ट कर देना चाहिये। अधिक कहनेसे क्या अप्रमत्त चित्तसे महामोहरूप वेतालको भी हनन करना चाहिये।

---

१ जिस तरह मधुकर (भौंरा) सब फूलोंमेंसे रस ले लेता है परन्तु किसी फूलको कष्ट नहीं पहुंचाता है, उसी प्रकारसे जैनमुनि श्रावकोंके यहां उन्हें जरा भी कष्ट नहीं पहुंचाकर आहार लेते हैं। इस भिक्षावृत्तिको माधुकरीवृत्ति कहते हैं।

परन्तु मेरा शरीर कोमल शय्या (सेज) और सुन्दर आहारादिसे लालन पालन किया हुआ है और चित्त भी इसी प्रकारके संस्कारोंसे संस्कृत है, इस लिये मेरी सामर्थ्य नहीं है कि, मैं इस बड़े भारी भारको उठा सकूं। और यह अवश्य है कि, जब तक सब प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करके—सारे दंदफन्दोंसे अलग होकर जैनेश्वरी दीक्षा नहीं धारण की जायगी, तब तक सम्पूर्ण प्रशम सुखकी अथवा सारे क्लेशोंके अभावस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इससे मैं अब क्या करूं? यह कुछ भी समझमें नहीं आता है। इस प्रकारसे यह जीव अपने कर्तव्यका निश्चय न कर सकनेके कारण अपने हृदयको सन्देहरूपी हिंडोलेमें झुलाता हुआ कितना ही समय विचार ही विचारमें पूरा कर देता है।

आगे[1] कथामें कहा गया है कि, एक दिन उस भिखारीने महाकल्याणक भोजनसे पेट भर लेनेके पश्चात् लीलाके वश थोड़ासा ठीकरेका कुभोजन चख लिया। उस दिन तृप्ति हो चुकनेके बाद कुभोजन करनेके कारण उसके कुथितत्व (सड़कर जीव पड़ जाना) विरसत्व (चलितरस हो जाना वा स्वाद बिगड़ जाना) और निन्द्यत्व आदि जैसेके तैसे गुण भिक्षुकके चित्तमें भास गये और इससे उस कुभोजनसे उसको घृणा हो गई। अतएव अब चाहे जो हो, इस कुभोजनका मुझे त्याग कर ही देना चाहिये, ऐसा अपने मनमें निश्चय करके उसने सद्बुद्धिसे कहा। सद्बुद्धिने कहा कि, "इसे धर्मबोधकरके साथ भलीभांति सलाह करके वा पर्यालोचना करके छोड़ना चाहिये।" तदनुसार भिखारीने धर्मबोधकरके निकट जाकर अपना अभिप्राय प्रगट किया और उसने भी विचार करके उस

---

१ इसका सम्बन्ध ४४ पृष्ठके तीसरे पारिग्राफके साथ है।

कदन्नका त्याग करा दिया। फिर उसके ठीकरेको निर्मल जलसे साफ करके परमान्नसे भर दिया। उस दिन बड़ा भारी उत्सव किया गया और लोगोंके कहनेसे उस भिखारीका 'सपुण्यक' नाम पड़ गया। यह सब वृत्तान्त इस जीवके सम्बन्धमें जो कि गृहस्थावस्थामें वर्त्त रहा है और जिसकी बुद्धि दीक्षा लेनेके लिये दोलायमान है, इस प्रकारसे योजित होता है:—

जब यह प्रशमसुखके आस्वादका जाननेवाला जीव संसारके प्रपंचोंसे विरक्त हो जाता है परन्तु किसी एक अवलम्बनके कारण घरमें बना रहता है, तब उत्कृष्ट प्रकारके तप और नियमोंका अभ्यास करता है। सो इसको भिखारीके परमान्नभक्षणके समान समझना चाहिये और उस अवस्थामें जो यह अनादरपूर्वक कभी २ धनका उपार्जन करता है तथा कामसेवन करता है, सो उसे लीलावश कुभोजनके चखनेके समान समझना चाहिये।

गृहस्थावस्थामें जब स्त्री बुरा काम करती है, पुत्र अविनय करता है, लड़की विनयका उल्लंघन करती है, बहिन विपरीत आचरण करती है, धर्ममार्गमें धनव्यय करनेसे भाई प्रसन्न नहीं होता है, मातापिता लोगोंके साम्हने रोते हैं कि 'यह गृहस्थके काम काजोंकी ओर ध्यान नहीं देता है' बन्धुवर्ग बुरा आचरण करते हैं, परिवारके लोग वा नोकर चाकर आज्ञासे उलटे चलते हैं, बहुत कुछ लालन पालन करनेपर भी देह दुष्ट मनुष्यके समान रोगादि विकार उत्पन्न करती है, और धन बिजलीके विलासके समान विना समयके ही विलयमान् हो जाता है, तब प्रशमसुखरूप परमान्नसे संतृप्त हुए जीवके मनमें यह सम्पूर्ण संसार कुभोजनके समान जैसाका तैसा भास जाता है। उस समय इसे संसारसे

अतिशय संवेग हो जाता है, इसलिये यह एकान्तमें बैठकर अपने मनमें विचार करता है कि,—"अहो! जिनके लिये मैं परमार्थको जानकर अर्थात् वस्तुतत्त्वको समझकर भी अपने कार्यकी (आत्मोन्नति) अवहेलना करके घरमें रहता हूं, उन कुटुम्बी जनोंका भी तथा धन शरीरादिका भी हाय! यह परिणाम है यह दशा है। तो भी मुझ विना सोचे समझे करनेवालेसे इनका स्नेह तथा मोह नहीं छूटता है। सचमुच यह अविद्याकी ही लीला है, जो ऐसे कुटुम्ब धनादिमें भी मेरा चित्त उलझा हुआ है और मैं दीक्षा नहीं ले सकता हूं। भला अब मैं अपने प्रयोजनसे विरुद्ध कार्य करनेमें तत्पर होकर अपने आत्माको क्यों ठगूं? अर्थात् इस गृहस्थाश्रममें क्यों फँसा रहूं? इन सारे अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहोंको जो कि कीचड़के समान फँसाए रहनेवाले हैं और जिनका रेशमके कीड़ेके समान आपको कैद कर रखने मात्र फल है, अब मैं छोड़े देता हूं। यद्यपि जब जब मैं विचार करता हूं, तब तब मेरे इस विषयोंके स्नेही चित्तमें ऐसा ही भास होता है कि, यह समस्त परिग्रहका त्याग दुष्कर (कठिन) है, तो भी अब मुझे इसका त्याग कर ही देना चाहिये, पीछे "यद्भाव्यं तद्भविष्यति" अर्थात् जो होनेवाला होगा, सो होगा। अथवा इसमें होना ही क्या है? कुछ भी नहीं। यदि कुछ होना होता, तो जब इस असुन्दर परिग्रहको किंचित् छोड़ा था, तब ही होता। परन्तु इसके छोड़नेसे तो चित्तमें उपमारहित प्रमोद ही उत्पन्न होता है। इसलिये जब तक जीव इस परिग्रहरूपी कीचड़में हाथीके समान फँसा रहता है, तब ही तक इसे यह दुस्त्यज (कठिनाईसे भी जो न छूट सके) जान पड़ता है, परन्तु जब इस कीचड़से निकल जाता है, तब विवेक होनेके कारण

यह धनविपयादिके सम्मुख भी नहीं देखता है। "को हि नाम सकर्णको लोके महाराज्याभिषेकमासाद्य पुनश्चाण्डालभावमात्मनोऽभिलषेत्" अर्थात् ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो एक बड़े भारी राज्यको पाकर फिर अपने पूर्वके चाण्डालपनेको पानेकी इच्छा करता है।" इस प्रकार विचार करके यह जीव "अब मुझे यह सारा परिग्रह छोड़ ही देना चाहिये–इसके छोड़नेसे मेरा कुछ भी अपाय नहीं होगा–अर्थात् मुझे कुछ भी दुःख नहीं होगा," ऐसा स्थिर निश्चय कर लेता है।

फिर सद्बुद्धिके साथ विचार करके यह ऐसा निश्चय करता है कि मुझे इस प्रयोजनके विपयमें धर्मगुरुसे पूछ लेना चाहिये। तदनुसार उनके समीप जाकर विनयपूर्वक अपना अभिप्राय प्रगट करता है, तब वे उसकी प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि, "हे भद्र! तुम्हारा अभिप्राय बहुत सुन्दर है परन्तु इस मार्गपर चलनेका महापुरुपोंको ही अभ्यास रहता है– महापुरुप ही इस कठिन मार्गपरसे चल सकते हैं, कातर (डरपोंक, कायर) पुरुपोंको इस मार्गमें दुःख होता है; इस लिये यदि तुम इसपर चलना चाहते हो, तो धैर्यका दृढ आलिंगन करो। क्योंकि जिनके चित्तमें उत्कृष्ट धैर्य नहीं होता है, वे पुरुप इस मार्गके अन्त तक नहीं पहुंच सकते हैं–बीचहीमें गिर जाते हैं।" इसे धर्मबोधकरके भिखारीको समझानेके तुल्य समझना चाहिये। इसके पश्चात् यह जीव गुरुमहाराजके वचनोंको स्वीकार करता है और गुरुमहाराज इसे इसकी भलीभांति परीक्षा करके तथा समीपके रहनेवाले गीतार्थ मुनियोंके साथ भी इसकी योग्यताका विचार करके दीक्षा दे देते हैं। यहां सम्पूर्ण परिग्रहके त्यागको कुभोजन छोड़नेके समान समझना चाहिये।

पश्चात् इस जीवनमें जीवने जो २ पाप किये हैं, उनकी गुरुमहाराज आलोचना कराके उसके जीवितव्यकी शुद्धि करते हैं। सो इसे भिक्षाके ठीकरेको निर्मल जलसे साफ करनेके समान समझना चाहिये और फिर सम्यक्चारित्रका आरोपण करते हैं, सो इसे साफ किये हुए ठीकरेको परमान्नके भोजनसे भरनेके तुल्य जानना चाहिये।

जीवके दीक्षा लेनेके समय गुरु महाराजके प्रसादसे त्रिम्बपूजा संघपूजा आदि भव्यजीवोंके आनन्दित करनेवाले कार्य तथा सन्मार्गकी प्रवृत्ति करानेवाले और बहुतसे उत्सव होते हैं। तथा "इस बेचारेको हमने संसाररूपी बीहड़ वनके पार लगा दिया" इस प्रकारकी भावनासे गुरुमहाराजके चित्तको संतोष होता है। इससे जीवपर उनकी बड़ी भारी दया होती है और उसके (दयाके) प्रसादसे ही इसकी सद्बुद्धि अतिशय निर्मल होती है। उस समय जीवके ऐसे उत्तम आचरण देखकर लोगोंमें भी जिनशासनकी प्रभावना करनेवाले अच्छे २ विचार उत्पन्न होते हैं। इन सब बातोंको पूर्व कथामें कहे हुए नीचेके श्लोकके तुल्य समझना चाहिये,:—

धर्मबोधकरो हृष्टस्तद्दया प्रमदोद्धुरा।
सद्बुद्धिर्वर्द्धितानन्दा मुदितं राजमन्दिरम्॥

अर्थात् यह देखकर धर्मबोधकर हर्षित हुआ, तद्दया उन्मत्त हो गई, सद्बुद्धिका आनन्द बढ़ गया और सारा राजमन्दिर प्रमुदित हो गया।

इस जीवने जिस समय सुमेरु पर्वतके समान महाव्रतोंका महा भार धारण किया, उस समय भव्य जीव भक्तिसे गद्गद और रोमांचित होकर प्रशंसा करने लगे,:—यह धन्य है। यह कृतार्थ है। इस महात्माका जन्म लेना सार्थक है। इसकी इस सत्प्रवृत्तिके

देखनेसे भली भांति निश्चय होता है कि, परमात्माकी इसपर सुदृष्टि हुई है और धर्माचार्य महाराजके चरणोंका प्रसाद इसे प्राप्त हुआ है। इसीसे इसके चित्तमें ऐसी सुन्दर बुद्धिका आविर्भाव हुआ है जिससे कि इसने सम्पूर्ण अन्तरंग और वहिरंग परिग्रहोंका त्याग कर दिया, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयका ग्रहण किया और रागादि विकारोंका प्रायः नाश कर डाला। बड़े पुण्यशालियोंके ही ऐसी घटनाएं होती हैं, इसलिये उस समय लोगोंने इसका 'सपुण्यक' ऐसा सयुक्तिक वा सार्थक नाम प्रचलित कर दिया।

आगे कथामें कहा है कि, अब अपथ्यका सेवन नहीं करनेसे उस दरिद्रीके शरीरमें रोगपीड़ा नहीं होती थी और यदि कभी पूर्वके विकारोंसे होती थी, तो बहुत थोड़ी होती थी और सो भी शीघ्र ही मिट जाती थी। पूर्वोक्त तीर्थजलादि तीन औषधियोंके निरन्तर सेवन करनेसे उसके धैर्य बल आदि गुण बढ़ते थे। यद्यपि रोगोंकी सन्तति बहुत होनेके कारण अभी तक वह सर्वथा निरोग नहीं हुआ था, तौ भी उसके स्वास्थमें पहिलेकी अपेक्षा बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया था और इसी लिये कहा था कि:—

यः प्रेतभूतः प्रागासीद्गाढबीभत्सदर्शनः।
न तावदेश सम्पन्नो मानुषाकारधारकः॥

अर्थात् "पहिले जो पिशाचके समान अतिशय घिनौना दिखता था, वह अब मनुष्यके समान आकारका धारण करनेवाला हो गया।" ये सब बातें जीवके विषयमें समानरूपसे घटित होती हैं। यथा;—

इस जीवको गृहादि झंझटोंका भावपूर्वक त्याग करनेसे रागादि रोगोंकी पीड़ा नहीं होती है। क्योंकि कारणके अभावसे कार्यका भी अभाव होता है। गृहआदि परिग्रह कारण हैं और रागादि

विकार कार्य हैं। और यदि कभी पूर्वोपार्जित कर्मोंके उदयसे होती है, तो वह थोड़ी होती है और बहुत समय तक नहीं रहती है। तब यह संसारके व्यापारादि कार्योंकी अपेक्षा नहीं रखनेवाला जीव वांचना, पृच्छना (पूंछना), परावर्त्तना (पहिलेका याद करना), अनुप्रेक्षा (मनन करना), और धर्मकथारूप पांच प्रकारका स्वाध्याय करके अपने ज्ञानको वढ़ाता है, जिनशासनकी उन्नति करनेवाले शास्त्रोंके अभ्यासादिसे सम्यग्दर्शनको दृढ़ करता है, और उत्कृष्ट प्रकारके तप नियमादिकोंका पालन करके चारित्रको आत्मस्वरूप बनाता है। इस सब कथनको तीनों औषधियोंके भावपूर्वक सेवन करनेके तुल्य समझना चाहिये।

इस प्रकारकी दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणतिसे जीवके बुद्धि, धीरज, स्मृति, बल आदि गुण प्रगट होते हैं। यद्यपि बहुतसे रागादि भावरोग जो कि अनेक जन्मोंमें कमाये हुए कर्मोंके परिपाकसे उत्पन्न होते हैं; सत्तामें बने रहते हैं जिससे कि अभीतक यह सर्वथा रोगरहित नहीं होता है, तो भी इसके रोग बहुत ही क्षीण वा हलके हो जाते हैं। यही कारण है, जो यह जीव पहिले बहुत ही बुरे कार्योंके करनेमें रुचि रखता था और उन्हे आत्मरूप अनुभव करता था, सो अब धर्मके कार्य करनेमें रुचि रखता हुआ उस धर्मको निजरूप अनुभव करता है।

आगे जैसे तीर्थजलादि औषधियोंके सेवन करनेसे उस भिखारीका चिरकालके अभ्यस्त किये हुए तुच्छता (ओछाई) क्लीवता (नपुंसकता), लालच, शोक, मोह, भ्रम आदि भावोंको छोड़कर कुछ उदारचित्त होना वतलाया है, उसी प्रकारसे यह जीव भी ज्ञान दर्शन और चारित्रके सेवनके प्रभावसे अपने तुच्छतादि

भावोंको जो कि अनादिकालसे परिचित हो रहे हैं छोड़कर कुछेक उदारहृदय होता है।

और आगे कहा है कि, उस प्रसन्नचित्त भिखारीने सद्बुद्धिसे पूछा कि, " हे भद्रे! मुझे ये तीन औषधियां किस कर्मके फलसे प्राप्त हुई हैं?" तब उसने कहा कि, "**स्वयं दत्तमेवात्र लोके लभ्यते** अर्थात् इस संसारमें लोग अपना दिया हुआ ही पाते हैं सो जान पड़ता है कि तुमने किसी जन्ममें दूसरोंको ये औषधियां दी होंगी" यह सुनकर सपुण्यकने सोचा कि, "यदि दिया हुआ फिर मिलता है, तो मैं फिर भी बड़े भारी प्रयत्नसे सत्पात्रोंको दान करूं; जिससे कि ये सम्पूर्ण कल्याणोंकी कारणभूत औषधियां मुझे जन्मजन्मान्तरमें भी अक्षय्यरूपसे प्राप्त होवें।" जीवके विषयमें भी ये बातें समान रूपसे घटित होती हैं। देखिये:—

यह ज्ञानदर्शन और चारित्रजनित प्रशमसुखका अनुभव करनेवाला जीव सद्बुद्धिके प्रसादसे जानता है कि, "ये सम्पूर्ण कल्याणोंके प्राप्त करानेवाले ज्ञान दर्शन और चारित्र यद्यपि अतिशय दुर्लभ हैं, तो भी मुझे किसी प्रकारसे प्राप्त हो गये हैं। इनका पाना पूर्वके किसी शुभाचरणरूप कर्मके विना संभव नहीं। इसलिये जान पड़ता है कि मैंने पूर्वजन्ममें इन्हींके समान कोई निर्मल (शुभ) कर्म अवश्य किया होगा जिससे मुझे इनकी प्राप्ति हुई है।" इसके पश्चात् उसे यह चिन्ता होती है कि, "ये ज्ञानदर्शन चरित्र मुझे अविच्छिन्नरूपसे सदा ही कैसे प्राप्त होते रहेंगे?" फिर इन तीनों रत्नोंको दान करना ही इनके निरन्तर प्राप्त होते रहनेका कारण है, ऐसा वह अपने मनमें निश्चय कर लेता है और स्थिर कर लेता है कि, अब मैं इन्हें अपनी शक्तिके अनुसार सत्पात्रोंको दान करूंगा, जिससे मेरे मनोरथकी सिद्धि हो।

वह सपुण्यक दरिद्री यद्यपि यह निश्चय कर चुका था कि, मैं तीर्थजलादि औषधियोंका दान करूं, परन्तु उसे यह अभिमान था कि, म सुस्थित महाराजादिका प्यारा हूं, इसलिये वह यह सोचता था कि, "यदि मुझसे कोई आकर प्रार्थना करेगा, तो मैं औपधियां दूंगा, नहीं तो नहीं।" और इस अभिप्रायसे देनेकी इच्छा होनेपर भी वह याचना करनेवालोंकी राह देखा करता था। वहुत कालतक उसने प्रतीक्षा की, परन्तु कोई भी नहीं आया। क्योंकि उस राज-मंदिरमें जो लोग पहिलेसे थे, उनके पास तो इससे भी अच्छी औपधियां थीं और जो मनुष्य उसी समय मन्दिरमें प्रवेश करनेके कारण उन औषधियोंसे रहित थे, उन्हें भी औपधियोंकी कमी नहीं थी—वे भी वहुत सी पा लेते थे। इससे वह दरिद्री चारों दिशाओंकी ओर देखता हुआ बैठा रहता था, परन्तु औषधियोंको लेनेके लिये उसके समीप कोई भी नहीं आता था। इस जीवके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये;—

दूसरोंको ज्ञान दर्शन चारित्रका दान करनेकी इच्छा होनेपर भी जीव विचार करता है कि, "मुझपर भगवानकी दृष्टि पड़ी है, धर्माचार्य महाराज मुझे वहुत मानते हैं, मुझपर उनकी श्रेष्ठ अनुग्रह करनेमें तत्पर रहनेवाली दया सदा ही रहती है, सद्वुद्धिका मेरे हृदयमें कुछ २ विकास हो गया है, और सव लोग मेरी प्रशंसा करते हैं, इससे सचमुच ही मैं पुण्यवान् होनेके कारण लोकशिरो-मणि हो गया हूं।" इस प्रकारके विचारसे जीवको मिथ्याभिमान उत्पन्न होता है। यह इस वातका वहुत अच्छा उदाहरण है कि, "सर्वथा निर्गुणी पुरुषका भी यदि महापुरुष गौरव करते हैं, तो उसके हृदयमें वड़ा भारी अभिमान हो जाता है।" यदि ऐसा

नहीं होता, तो यह जीव अपनी पूर्वकी सारी नीचताओंको भूलकर ऐसा अभिमान क्यों करता ? उस समय यह विचारता है कि, "जब कोई मुझसे विनयपूर्वक प्रार्थी होकर ज्ञानादिका स्वरूप पूछेगा, तब ही मैं उनका निरूपण करूंगा—विना पूंछे उपतकर नहीं।" इस प्रकारके अभिप्रायकी विडम्बनामें पड़कर जीव इस मुनियोंके शासनमें बहुत समय तक रहता है, परन्तु इसके पास कोई भी पूछनेवाला नहीं आता है। क्योंकि जिनशासनमें जो जीव भावपूर्वक रहते हैं, वे तो स्वयं ही ज्ञानदर्शनचारित्रको अच्छी तरहसे धारण करनेवाले होते हैं—इस प्रकारके उपदेशकी अपेक्षा नहीं रखते हैं और जो जीव तत्काल ही कर्मविवरको पाकरके (कर्मोंके विच्छेदसे) सन्मार्गपर पैर रखनेके सन्मुख हुए हैं, अर्थात् जिन्होंने जैनशासनमें हाल ही प्रवेश किया है, और अब तक जो सम्यग्ज्ञानदर्शनादिसे रहित हैं, वे इस (याचकोंकी राह देखनेवाले) जीवके सन्मुख भी नहीं देखते हैं—याचना करनेकी तो बात ही जुदी है। क्योंकि उन्हें जैनशासनमें दूसरे बहुतसे महान्बुद्धिके धारण करनेवाले महात्मा मिलते हैं कि जो सम्यग्ज्ञानादिका निरूपण करनेमें बहुत चतुर होते हैं और जिनके पाससे वे सम्यग्ज्ञानदर्शन और चारित्रको विना किसी प्रकारके कष्टके इच्छानुसार प्राप्त कर सकते हैं। अतएव यह अभिमानी जीव किसी भी प्रार्थीके न आनेसे व्यर्थ ही अपनेको बड़ा मानता हुआ चिरकाल तक बैठा रहता है और अपना कुछ भी स्वार्थ नहीं साध सकता है।

आगे कथामें कहा है कि, फिर उस सपुण्यकने सद्बुद्धिसे पूछा कि, " मुझे इन औषधियोंका दान किस प्रकारसे करना चाहिये।" तब उसने कहा कि, " हे भद्र! बाहर निकालकर घोषणापूर्वक

(आवाज लगा लगा कर) औपधियां वितरण करना चाहिये।" तदनुसार सपुण्यक उस राजकुलमें खूब ऊंचे स्वरसे घोपणा करता हुआ भ्रमण करने लगा कि "हे लोगो। मेरी इन तीन औपधियोंको लो, ग्रहण करो।" उसकी यह घोपणा सुनकर जो उसीके समान तुच्छप्रकृतिके लोग थे, उन्होंने तो वे औपधियां ग्रहण कीं, परन्तु जो महत्पुरुष थे—उच्च प्रकृतिके थे, उन्हें वह प्रायः हास्यके ही योग्य प्रतिभासित हुआ और उन्होंने उसकी अनेक प्रकारसे हँसी उड़ाई वा निन्दा की। निदान उसने यह सब वृत्तान्त सद्बुद्धिसे कहा। वह बोली कि, "हे भद्र! ये लोग तुम्हें तुम्हारे पहिलेके भिखारीपनेका स्मरण करके अनादरकी दृष्टिसे देखते हैं और इसलिये तुम्हारी दी हुई औपधियोंको नहीं लेते हैं। अतएव यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि, इन औपधियोंको सब ही लोग लेवें, तो मेरे मनमें इसका यह उपाय झलका है कि, तुम एक बड़े भारी लकड़ीके पात्रमें (कठौतीमें) इन तीनों औपधियोंको रखकर उसे राजभवनके आंगनमें ऐसी जगह रख दो जहां सब लोग अच्छी तरहसे देख सकें और तुम स्वयं एक ओर शान्तितासे बैठ जाओ। फिर तुम्हें औपधिदान करनेकी चिन्ता नहीं रहेगी। क्योंकि लोग यह तो जानेंगे नहीं कि, ये किसकी औपधियां है—ये तो सबके लिये साधारण हैं अर्थात् इन्हें सब कोई ग्रहणकर सकता है—ये सबके लिये रक्खी गई हैं, ऐसा समझकर सब ही लोग उन्हें लेने लगेंगे। और ऐसा करनेसे यदि एक ही सद्गुणी सुपात्र पुरुप उन्हें ले जायगा, तो उससे तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो जायगा।" यह सुनकर सपुण्यकने सब वैसा ही किया। इस जीवके सम्बन्धमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। यथा,

जब इस जीवको महाव्रतीकी अवस्थामें ज्ञानादिका ग्रहण करने-

वाला कोई पात्र नहीं मिलता है, तब सद्बुद्धिपूर्वक विचार करनेसे इसे मालूम होता है कि, "मौनका अवलम्बन करके बैठे रहनेसे दूसरोंको ज्ञानादिका दान नहीं किया जा सकता है और वास्तवमें विचार किया जाय तो ज्ञानादिकी प्राप्ति करा देनेके सिवाय संसारमें और कोई उपकारका कार्य नहीं है। जिस पुरुषको सन्मार्गकी प्राप्ति हुई हो और यदि वह यह चाहता हो कि, जन्म-जन्मान्तरमें भी मुझे सन्मार्ग मिलता जाय, तो उसे चाहिये कि निरन्तर परोपकार करनेमें तत्पर रहे। क्योंकि परोपकार करनेहीसे पुरुषके गुणोंका उत्कर्ष होता है। यदि परोपकार सम्यक् प्रकारसे (भलीभांति) किया जाय, तो वह धीरताको बढ़ाता है, दीनताको कम करता है, चित्तको उदार बनाता है, पेटार्थूपनको छुड़ाता है, मनमें निर्मलता लाता है और प्रभुताको प्रगट करता है। इसके पश्चात् परोपकार करनेमें तत्पर रहनेवाले पुरुषका पराक्रम (वीर्य) प्रगट होता है, मोहकर्म नष्ट होता है, और दूसरे जन्मोंमें भी वह उत्तरोत्तर क्रमसे अधिकाधिक सुन्दर सन्मार्गोंको पाता है। तथा ऊपर चढ़कर फिर कभी नीचे नहीं गिरता है। इसलिये ज्ञानदर्शन-चारित्रका स्वरूप प्रकाशित करनेके लिये जितना अपनेसे बन सके, उतना स्वयं उपत करके यत्न करना चाहिये। किसीकी प्रार्थनाकी अपेक्षा नहीं करना चाहिये अर्थात् यह नहीं सोचना चाहिये कि, जब कोई हमसे आकर पूछेगा, तब हम बतलावेंगे।"

परोपकार करनेके इस सुन्दर सिद्धान्तको समझकर यह भगवानके मतमें महाव्रतीके रूपसे रहनेवाला जीव देशकालका विचार करके जुदे २ नाना स्थानोंमें भ्रमण करता है और बड़े भारी विस्तारसे भव्य जीवोंके लिये ज्ञानदर्शनचारित्ररूप मार्गका प्रतिपादन करता है इसे सपुण्यककी औषधिदान करनेकी घोषणाके समान समझना चाहिये

उस समय जब कि यह उपदेश देता है, जो लोग अतिशय मन्दबुद्धि होते हैं, वे तो इसके उपदेश किये हुए ज्ञानदर्शन चारित्रको कदाचित् ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु जो महान्बुद्धिके धारक होते हैं, वे इसके पुराने दोषोंका स्मरण करके इसे प्रायः हास्यके ही योग्य समझते हैं। यद्यपि यह उन महापुरुषोंके द्वारा तिरस्कार पाने योग्य है, परन्तु वे इसका तिरस्कार नहीं करते हैं। यह उन महापुरुषोंका गुण है, इसका नहीं।

फिर यह सोचता है कि, ऐसा क्या उपाय किया जाय जिससे मेरे इस ज्ञानदर्शनचारित्रको सब लोग ग्रहण करने लगें। और सद्बुद्धिके बलसे निश्चय करता है कि, "यदि मैं साक्षात्‌रूपसे उपदेश दूंगा, तो ये सब लोग उसे कदापि ग्रहण नहीं करेंगे, इसलिये जिनेन्द्र भगवानके मतके सारभूत तथा निरूपण करनेके योग्य जो ज्ञानदर्शनचारित्र हैं, उन्हें एक ग्रन्थरूपमें ज्ञेय[1], श्रद्धेय[2] और अनुष्ठेय[3] अर्थके विभागपूर्वक और विषय विषयीके भेदके विना स्थापित करना चाहिये और उस ग्रन्थको इस जिनेन्द्रशासनमें भव्यजनोंके साम्हने खोल कर रख देना चाहिये। ऐसा करनेसे उसमें प्रतिपादन किये हुए ज्ञानदर्शनचारित्र सब लोगोंके ग्रहण करने योग्य हो जावेंगे। यदि यह मेरा रचा हुआ ग्रन्थ बहुत जीवोंके उपयोगमें आवै, और उन्हें ज्ञानादिकी प्राप्ति करावै, तब तो बहुत ही अच्छा। परन्तु अन्ततो गत्वा यदि इससे एक भी प्राणीको उक्त ज्ञानदर्शनचारित्र भावपूर्वक प्राप्त हो गये, तो मैं समझूंगा कि, मैंने सब कुछ पा लिया—मेरा प्रयत्न सफल हो गया।" इस प्रकार विचार करके इस जीवने (मैंने) यह

---

१ जानने योग्य (ज्ञान)। २ श्रद्धा करने योग्य (दर्शन)। ३ आचरण करने योग्य (चारित्र)।

'यथा नाम तथा गुणवाली' उपमितिभवप्रपंचा नामकी कथा रची है, जो उत्तम शब्दों और अर्थोंके न होनेके कारण सुवर्णपात्री वा रत्नपात्री नहीं किन्तु ज्ञानदर्शनचारित्ररूप औपधियोंसे भरी हुई होनेके कारण भिखारीकी काष्ठपात्री अर्थात् कठौतीके समान है।

ऐसी स्थितिमें हे भव्यजनो! आप लोग मेरी एक प्रार्थना सुनें:—"जैसे उस भिक्षुककी राजप्रांगणमें (राजमहलके आंगनमें) रक्खी हुई तीनों औषधियां ग्रहण करके उन्हें भली भांति सेवन करनेवाले रोगी निरोगी हो जाते हैं और उन औपधियोंके ग्रहण करनेसे भिखारीका उपकार होता है अर्थात् उसकी दान देनेरूप इच्छाकी पूर्ति होती है, इसलिये उन रोगियोंको उचित है कि उक्त औपधियोंको ग्रहण करें; उसी प्रकारसे भगवानकी दृष्टिजनित गुरुमहाराजकी कृपासे मेरे हृदयमें जिस सद्बुद्धिका आविर्भाव हुआ है, उससे मैं इस कथामें जिस सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूप रत्नत्रयका वर्णन करूंगा, उसका भली भांति सेवन करनेसे सेवन करनेवाले प्राणियोंके रागादि भावरोग अवश्य नष्ट हो जावेंगे। क्योंकि "**न खलु वक्तृगुणदोषानुपेक्ष्य वाच्याः पदार्थाः स्वार्थसाधने प्रवर्तन्ते**" अर्थात् वर्णन किये हुए पदार्थ वर्णन करनेवालेके गुणदोपोंकी अपेक्षा करके स्वार्थसाधनमें प्रवर्त नहीं होते हैं। तात्पर्य यह कि, जो विपय कहा हो, उस विपयके शब्द ही लाभदायक होते हैं, कहनेवालेके गुणदोपोंसे लाभका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। यदि कोई पुरुप स्वयं भूखसे दुर्बल हो रहा हो, परन्तु वह अपने स्वामीके लड्डुओंको उसकी आज्ञासे उसके परिवारके लोगोंको बतला देवे और उनके साम्हने परोस देवे, तो क्या उनसे परिवारके लोगोंकी तृप्ति नहीं होगी? बतलानेवालेके भूखे होनेके कारण क्या

वे लड्डू क्षुधाकी निवृत्ति नहीं करेंगे ? अवश्य करेंगे—अपना सन्तुष्ट करनेका गुण कभी नहीं छोड़ेंगे। इसी प्रकारसे वक्ताके दोषसे वक्तव्य विषयके स्वरूपकी हानि नहीं होती है। अभिप्राय यह है कि, यद्यपि मैं स्वयं ज्ञानदर्शनचारित्रसे परिपूर्ण नहीं हूं, तो भी भगवानके आगमके अनुसार जो मैंने ज्ञानादिका स्वरूप कहा है, उसे जो भव्यप्राणी ग्रहण करेंगे वे रागादिरूप भूखकी शान्तिसे अवश्य ही स्वस्थ हो जावेंगे। क्योंकि उनका स्वरूप ही ऐसा है—मेरे कारण वे अपना स्वरूप नहीं छोड़ देवेंगे।"

"यद्यपि भगवानके सिद्धान्तोंका एक एक पद ही ऐसा है कि, यदि उसे कोई भावपूर्वक श्रवण कर लेता है तो उसके सारे रागादि रोग जड़से उखड़ जाते हैं और उनका श्रवण आपके स्वाधीन है अर्थात् आप चाहें तो उन पदोंको जब चाहे तब सुन सकते हैं और इसी प्रकारसे पूर्व कालके महापुरुषोंकी रची हुई कथाओंके भावपूर्वक श्रवण करनेसे भी रागादि दोष सहज ही नष्ट हो सकते हैं। परन्तु मेरी इच्छा हुई है कि मैं इस (ग्रन्थरचनारूप) उपायसे संसार सागरके पार हो जाऊं, इसलिये आप सब लोगोंको मुझपर अतिशय करुणामय होकर इस कथाका भी श्रवण करना चाहिये।" (ग्रन्थकर्त्ताने यहां अपनी नम्रता निरभिमानता और कोमलताकी पराकाष्ठा बतला दी है। देखिये वे अपने ग्रन्थकी प्रशंसा करके उसके पढ़ने सुननेका आग्रह नहीं करते हैं, किन्तु अपने पर दया कराके—अपना लाभ बतलाकर निवेदन करते हैं कि, इसे सुनो!)

उपसंहार।

पहिले कही हुई निष्पुण्यककी कथाके प्रायः प्रत्येक पदका दार्ष्टान्तिक अर्थ (उपनय) इसमें कह दिया गया है। यदि बीच २

में कहीं थोड़ा बहुत न बताया हो, तो उसे इसी प्रकार अपनी बुद्धिसे योजित कर लेना चाहिये। जो लोग संकेतको समझ जाते हैं, उन्हें उपमानके देखते ही उपमेयका ज्ञान हो जाता है—उन्हें उपमेयके समझनेमें कठिनाई नहीं पड़ती है। इसीलिये इस ग्रन्थकी आदिमें उपमानरूप कथाकी रचना की गई है। इस कथामें प्रायः एक भी ऐसा पद नहीं है, जिसका उपनय न हो अर्थात् जो दार्ष्टान्तमें न घटाया जा सके। इस लिये जो इस विषयमें शिक्षित हो गये हैं उन्हें उसका (बीच २ में नहीं बतलाये हुए उपनयका) सहज ही सुखपूर्वक ज्ञान हो जायगा। इस विषयमें और अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

इह हि जीवमपेक्ष्य मया निजं
यदिदमुक्तमदः सकले जने।
लगति संभवमात्रतया त्वहो
गदितमात्मनि चारु विचार्यताम्॥

अर्थात्—मैंने अपने जीवकी अपेक्षासे यहां जो कुछ कहा है, वह सब संभव होनेके कारण प्रायः सब ही लोगोंपर घटित होता है। इसलिये हे भव्यो! मेरे कहे हुएको अपने आत्मामें भले प्रकार घटाकर विचार करो।

निन्दात्मनः प्रवचने परमो प्रभावो
रागादिदोषगणदौष्ट्यमनिष्टता च।
प्राक्कर्मणामति बहुश्च भवप्रपञ्चः
प्रख्यापितं सकलमेतदिहाद्यपीठे॥

अर्थात्—ग्रन्थकी इस आदिपीठिकामें अपनी निन्दा, जिनशासनकी अतिशय प्रभावना, रागादि दोषोंकी दुष्टता तथा अनिष्टता

और पूर्वोपार्जित कर्मोंका बहुत बड़ा भवप्रपंच (संसारका विस्तार) ये सब बातें बतलाई गई हैं।

संसारेऽत्र निरादिके विचरता जीवेन दुःखाकरे,
जैनेन्द्रमतमाप्य दुर्लभतरं ज्ञानादिरत्नत्रयम्।
लब्धे तत्र विवेकिनादरवता भाव्यं सदा वर्द्धते,
तस्यैवाद्यकथानकेन भवतामित्येतदावेदितम्॥

अर्थात्—इस दुःखकी खानिरूप अनादिसंसारमें भ्रमण करते हुए जीवको जिनेन्द्रभगवानके धर्मकी प्राप्ति होनेपर भी सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्मका पाना अत्यन्त दुर्लभ है। जो लोग विवेकी हैं और विनयी हैं, वे उक्त दुर्लभ रत्नत्रयको पाकर अपने भव्यत्वभावको निरन्तर बढ़ाते रहते हैं। ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि, इस ग्रन्थकी प्रथमकथामें आपसे इसी विषयका विस्तारके साथ निवेदन किया गया है।

इस प्रकार उपमितिभवप्रपंचाकथाके हिन्दीभाषानुवादमें पीठबन्ध नामका पहिला प्रस्ताव पूरा हुआ।

जैनहितैषी ।

शुद्ध हिन्दी भाषाका मासिक पत्र ।

इसमें सामाजिक धार्मिक तथा ऐतिहासिक लेख या कविताएं, मनोरंजक उपन्यास और जीवनचरित्र आदि विषय रहते हैं ।

वार्षिक मूल्य १॥)